बच्चन परवर्ती काव्य

डॉ० हरिवंशराय बच्चन के परवर्ती काव्य का
एक विवेचनात्मक अध्ययन

डॉ० श्यामसुन्दर घोष
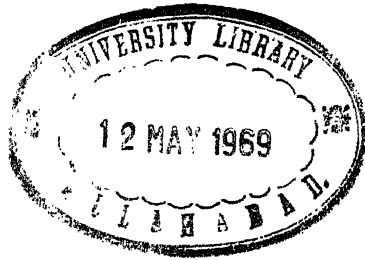
राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

प्रथम संस्करण : अक्तूबर १९६७

मुद्रक : शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली-३२

मूल्य : छः रुपये

BACHCHAN KA PARVARTI KAVYA by Dr. Shyam Sundar Ghosh : Criticism 6.00

आदरणीय बच्चन जी को

उनकी षष्टिपूर्ति के शुभावसर पर

सन्दर्भ

'बच्चन का परवर्ती काव्य' का लेखन सन् १९६६ के उत्तरार्द्ध में हुआ। पुस्तक पूरी होने के बाद एक बार नवम्बर, १९६६ में बच्चनजी से दिल्ली में मिलने का सुयोग हुआ। मुलाकात अपेक्षाकृत संक्षिप्त रही। यद्यपि पुस्तक की पांडुलिपि बच्चनजी इसके पूर्व ही पढ़ चुके थे तथापि इस संबंध में कोई बातचीत नहीं हुई। पुस्तक एकान्त प्रशंसात्मक नहीं है, यह पाठक देखेंगे। इसमें बच्चन-काव्य के दुर्बल पक्षों पर भी सधी निगाह रखी गई है; जैसे 'त्रिभंगिमा', 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' और परवर्ती अर्थात् लोकधुनाधारित गीतों आदि का विवेचन। लेखक को आशंका थी कि बच्चनजी इस संबंध में औपचारिक या अनौपचारिक बातें करेंगे या कोई सफाई और सुझाव देंगे। लेकिन यह एक सुखद आश्चर्यजनक अनुभव रहा कि उन्होंने इस संबंध में कोई चर्चा नहीं की। इस प्रकार मुलाकात का पुस्तक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा—घट-बढ़, संशोधन-परिवर्द्धन कुछ नहीं हुआ।

पुस्तक के मूल रूप में किंचित् परिवर्तन और परिवर्द्धन का सुझाव प्रकाशक की ओर से आया। यह अप्रत्याशित था, विशेषकर तब जब कि प्रकाशक बच्चनजी की अनुकूल राय से अवगत थे, लेकिन इसे अत्यन्त स्वाभाविक मानकर पूरा किया गया। श्री विश्वनाथजी ने पुस्तक की खासी जांच-परख की। इस क्रम में लेखक आश्वस्त रहा और बच्चनजी तटस्थ। इन तथ्यों का उल्लेख इसलिए आवश्यक है कि पुस्तक राजपाल एण्ड सन्ज़ से छप रही है जो बच्चनजी की पुस्तकों के एकमेव बड़े प्रकाशक हैं। इसलिए यह सोचने की गुंजाइश है कि पुस्तक 'बच्चनजी के प्रभाव के कारण' छपी होगी। वस्तुस्थिति इसके सर्वथा प्रतिकूल है। जिस प्रकार बच्चनजी की अपनी विशेषताएँ हैं—वे हद दर्जे के कोमल, कुशल, व्यवहारप्रिय, शालीन और उदार हैं, उसी प्रकार विश्वनाथजी के भी अपने गुण हैं—वे चाक-चौबन्द, दुरुस्त, खरे, निर्णयनिष्ठ और दृढ़ हैं। वे प्रकाशन-नीतियों की स्वायत्तता की दृढ़तापूर्वक रक्षा करते हैं। शायद यही कारण है कि उनके प्रकाशनों का विशिष्ट ढंग और स्तर है। मुझे प्रसन्नता है कि वे इस पुस्तक को इतनी जल्दी, और इतने सुन्दर ढंग से, प्रकाशित कर सके।

२६ जनवरी, १९६७ —डा० श्यामसुन्दर घोष

अनुक्रम

प्रस्तावना

बच्चन के परवर्ती काव्य पर कुछ लिखने में दिक्कत है। बच्चन का परवर्ती सृजन अभी चल ही रहा है।[1] पता नहीं उनका कब कौन-सा स्वरूप पाठकों और आलोचकों के सामने आए।[2] लेकिन इस दिक्कत के होते हुए भी मैंने परवर्ती काव्य पर ही क्यों लिखना चाहा, इसके कारण हैं।

बच्चन का परवर्ती काव्य उनके पूर्ववर्ती काव्य से एकदम भिन्न है, इसलिए महत्त्वपूर्ण है। पंतजी ने बच्चन के पूर्ववर्ती काव्य को मधुकाव्य और परवर्ती काव्य को बौद्धिक काव्य की संज्ञा दी है। यद्यपि मैं इस नामकरण से सहमत नहीं हूँ तथापि इतना तो अवश्य है कि बच्चन का पूर्ववर्ती काव्य भावुकता का या भावुकता-प्रधान काव्य है और परवर्ती काव्य प्रौढ़ता का या प्रौढ़ता प्रधान काव्य है। लेकिन अन्तर केवल भावुकता और प्रौढ़ता की मात्रा का ही नहीं है। यह अन्तर बहुत अधिक बढ़ जाता है जब हम शैली-शिल्प में हुए परिवर्तन को ध्यान में लाते हैं। वास्तव में किसी कवि या लेखक के सृजन में किसी एक पक्ष का अन्तर उतना ध्यानाकर्षी नहीं होता जितना कि उभय पक्ष का अन्तर। केवल कथ्य बदल जाने से, और शैली-शिल्प के यथावत् रहने से, अन्तर उतना अधिक

१. बच्चन कहते हैं—

मैं अभी ज़िन्दा अभी यह
शव परीक्षा मैं तुम्हें करने न दूँगा।
... ...

मैं अभी मुर्दा नहीं हूँ
और तुमको भी अभी मरने न दूँगा
मैं अभी ज़िन्दा अभी यह
शव परीक्षा मैं तुम्हें करने न दूँगा।

(आरती और अंगारे, पृ० २४०)

२. विशेषकर तब जब कि कवि मानता है—

मैं जहाँ खड़ा था कल उस थल पर आज नहीं
कल इसी जगह फिर पाना मुझको मुश्किल है

(मिलन यामिनी, पृ० १६२)

नहीं प्रतीत होता। लेकिन यदि कथ्य के साथ-साथ शैली और शिल्प भी बदल जाये तो अंतर बहुत अधिक ज्ञात होने लगता है। कल्पना कीजिये कि प्रसाद की 'कामायनी' मुक्त छन्द में लिखी जाती तो क्या होता ? उसका कथ्य जितना गुरु-गम्भीर है शैली भी उतनी ही गरिष्ठ हो जाती है। 'कामायनी' में जो आधुनिकता आते-आते रह गई है उसका बहुत बड़ा कारण उसका शिल्प है। 'कामायनी' का शिल्प तत्कालीन छायावादी शिल्प का प्रचलित रूप है यद्यपि कथ्य की दृष्टि से 'कामायनी' अपने समय से आगे की चीज़ है। यदि कथ्य के अनुरूप प्रसाद शिल्प भी अधुनातन अपनाते तो 'कामायनी' का स्वरूप कुछ दूसरा ही होता। तब 'कामायनी' का मूल्यांकन किस रूप में होता, इसकी कल्पना की जा सकती है।

प्रौढ़ता बच्चन के परवर्ती काव्य में इस रूप में भी आ सकती थी कि वे गीत लिखते हुए ही प्रौढ़ हो जाते, जैसा कि 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' में हुए हैं। 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत' और 'आकुल अंतर' में उनमें जितनी भावुकता और भाव-विह्वलता है ठीक उतनी और वैसी 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' में नहीं है। वहाँ उसपर प्रौढ़ता का घूँघट या आवरण पड़ गया है। लेकिन यह अंतर सामान्य पाठक को ठीक-ठीक ज्ञात नहीं होता। वह जिस तन्मयता और सहृदयता से 'निशा निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' के गीतों को पढ़ता है उसी तन्मयता और सहृदयता से 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' के गीतों को भी पढ़ता है। यद्यपि 'आरती और अंगारे' तक आकर उसे कवि के कथ्य का कैनवास पहले की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत लगता है तथापि वह शैलीगत समानता के कारण इस सोपान पर सुगमता-पूर्वक आरोहण कर जाता है। लेकिन यदि ऐसा होता कि 'आरती और अंगारे' गीत-विधा में न लिखा जाकर अन्य विधा में लिखा जाता तो पाठक इस सोपान तक आते-आते ठिठक जाता, यहाँ रुककर कुछ सोचने लगता, मन ही मन प्रश्न करता कि पता नहीं आगे कैसा, कौन-सा प्रदेश है। बच्चन के काव्य में जो स्थिति 'आरती और अंगारे' तक नहीं आती वह 'बुद्ध और नाचघर' में पाठकों के सामने सहज ही आ जाती है। केवल कथ्य, शैली-शिल्प और छन्द की दृष्टि से ही नहीं, नामकरण आदि की दृष्टि से भी 'बुद्ध और नाचघर' बच्चन के पूर्ववर्ती काव्य-संकलनों से बहुत अलग है। इसलिए यहाँ से बच्चन के पूर्ववर्ती पाठकों को कठिनाई और निराशा होने लगती है। इस बात को बच्चन न समझते रहे हों, ऐसी बात नहीं। लेकिन कोई सत्य था जो उन्हें निरन्तर एक

बदले हुए लहजे में बोलने के लिए प्रेरित और विवश कर रहा था। वे इस बात को जानते हुए भी कि उनका यह लहजा उनके पूर्व के लहजे की तुलना में अटपटा और बेमज़ा समझा जायेगा, अपने तब के सच्चे और स्वाभाविक लहजे में बोलने को विवश थे। यह विवशता ही कभी-कभी कवि को जोखिम उठाने को उकसाती है।

लेखन जिनके लिए मात्र व्यवसाय या प्रसिद्धि का साधन न होकर जीवन के गम्भीरतर अर्थों से समन्वित होता है, वे ऐसे कितने ही खतरे मोल लेते हैं। इस दशा में एक प्रकार के संकल्प या जनून से प्रेरित होते हुए इनके किये गये कार्यों के औचित्य का विश्लेषण और परीक्षण आवश्यक हो जाता है। इसलिए आलोचकों का बच्चन के परवर्ती काव्य के प्रति आकृष्ट होना सहज स्वाभाविक है। जहाँ पाठकों की भीड़ लेखकों और कवियों को छोड़ दे वहाँ आलोचकों का सतर्क हो उठना स्वाभाविक है। आखिर पाठकों की भीड़, जो उसके पीछे इस प्रकार लगी रहती थी, उससे क्यों विमुख हो गई? और पाठकों की भीड़ के विमुख हो जाने पर भी वह पाठकों की ओर मुड़ा क्यों नहीं? यह कौन-सी विवशता है जो उसे आगे एक अनजाने पथ पर खींचे लिए चली जा रही है?

हर प्रतिभावान लेखक के पूर्ववर्ती और परवर्ती लेखन के बीच एक अंतराल होता है। यह अंतराल जितना ही अधिक होगा लेखक उतना ही बड़ा होगा। निराला, प्रेमचन्द, प्रसाद सबमें यह अंतराल है। यह अंतराल बच्चन के पूर्ववर्ती काव्य और परवर्ती काव्य में भी है। बच्चन के पूर्ववर्ती काव्य में बच्चन के कवि के अपने सुख-दुख और भाव और अभाव बहुत प्रमुख हैं। लेकिन बाद में कवि इसे भूल जाता है। यह कुछ-कुछ परिस्थितियों के दबाव के कारण भी होता है।[1] पहले कवि के लिए व्यक्तिगत यथार्थ ही अधिक प्रमुख था, वह उसीमें खोया रह सकता था। तब उसकी मानसिक बनावट ऐसी ही थी। लेकिन बाद में चलकर उसकी मानसिक बनावट में परिवर्तन होता है या यह भी कह सकते हैं कि पूर्ववर्ती परिस्थितियों की तुलना में बाद में कवि पर सामाजिक यथार्थ का दबाव अधिक बढ़ जाता है। 'आरती और अंगारे' तक तो व्यक्तिगत सुख-दुःख और भाव-अभाव का बोध फिर भी बना रहता है लेकिन बाद के काव्य-संकलनों में तो वह क्षीण से क्षीणतर और क्षीणतर से क्षीणतम होता जाता है। 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' और 'दो चट्टानें' तक आते-आते तो बच्चन युगकवि हो

१. इसका विस्तृत विवेचन 'बच्चन का काव्य और यथार्थ के बदलते हुए रूप' अध्याय में देखें।

जाते हैं। अब उनके काव्य में व्यक्ति के स्थान पर युग (युग की असंगतियाँ और युग की समस्याएँ) बोलने लगता है। इस प्रकार उनका मधुकाव्य युग-काव्य में परिणत हो जाता है। जब युग किसी कवि के काव्य का विषय बन जाता है तो वह स्वभावतः जटिल हो जाता है, वह व्यक्ति-भावों को व्यक्त करने वाले काव्य की तरह सरल नहीं रह जाता। इसी जटिलता को लोग बौद्धिकता कहते हैं।

बौद्धिकता, जो अंग्रेज़ी इंटेलेक्चुअलिज्म का पर्याय है, बच्चन में नहीं है। यदि आलोचकों का यह कहना कि "वस्तुतः बच्चन जी का काव्य-व्यक्तित्व प्रारम्भ से एक प्रकार का फकीराना अन्दाज़ लेकर बढ़ा और पनपा है"[१] सही है तो बच्चन के काव्य-व्यक्तित्व में बौद्धिकता का आरोप बहुत कुछ व्यर्थ है। इसीलिए मैंने उनके परवर्ती काव्य को प्रौढ़ता और जटिलता का काव्य कहा है। प्रौढ़ता अनुभव और वय के कारण आती है और जटिलता परिस्थितियों के उलझाव के कारण जबकि बौद्धिकता का सम्बन्ध कथ्य पक्ष में अधिकतर अध्ययन, चिंतन और मनन से और शिल्प पक्ष में अनवरत आयास से है। बौद्धिकता हिन्दी कवियों में प्रभाकर माचवे के काव्य-व्यक्तित्व में है।

बच्चन हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में लेखकीय ईमानदारी के अप्रतिम उदाहरण रहे हैं। जब उन्होंने लिखना शुरू किया उसके थोड़े ही दिनों बाद प्रगतिवादी आन्दोलन चला। नरेन्द्र, अंचल, भगवतीचरण वर्मा सभी उस आन्दोलन में शामिल हुए या उससे प्रभावित हुए। लेकिन बच्चन ने मुखौटा लगाना ज़रूरी नहीं समझा। सन् १९४३ में 'तार सप्तक' के प्रकाशन के रूप में प्रयोगवाद का बिगुल बजा। लेकिन बच्चन ने उसपर ज़रा भी ध्यान नहीं दिया। सन् १९४३ ई० में उन्होंने 'बंगाल का काल' कविता की रचना की। इससे बच्चन की उस प्रकार की लेखन-क्षमता स्पष्ट है जो प्रगतिवादी साहित्यकारों के लिए आदर्श और ईर्ष्या का विषय हो सकती है। लेकिन ऐसी संवेदना और सृजन-क्षमता के होते हुए भी उन्होंने तथाकथित प्रगतिवादी काव्य-भूमि पर थोड़ा भी व्यायाम या अभ्यास ज़रूरी नहीं समझा। 'बंगाल का काल' की रचना करने के बाद भी उनकी प्रगतिवादी कहलाने की इच्छा नहीं हुई। तभी तो सन् १९४८ में 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' का सृजन किया। तब गाँधीवादी या गाँधी-भक्त कहकर उनके 'बंगाल का काल' के कवि की कीर्ति को मलिन किया जा सकता था। लेकिन इसके कारण भी वे अपने पथ से विचलित नहीं हुए।

१. कैलाश वाजपेयी, कल्पना, अगस्त १९६३

जब सन् १९५० के बाद नयी कविता का आन्दोलन चला तो कितने ही पुराने रचनाकार उसकी ओर आकृष्ट हुए। दिनकर ने 'नील कुसुम' और पंत ने 'कला और बूढ़ा चाँद' के रूप में नयी कविता के प्रति अपने स्पष्ट झुकाव प्रकट किये। लेकिन इस समय बच्चन 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' के गीत लिखते रहे। इससे स्पष्ट है कि बच्चन अपने समय के साहित्य-आन्दोलनों से एकदम अप्रभावित रहकर एकमेव अपनी अनुभूतियों के प्रति ईमानदार रहे हैं।[१] और सबसे बड़ी बात तो यह कि इन सभी साहित्यिक आन्दोलनों से दूर रहकर भी वे पुराने नहीं पड़े हैं और न मृत हुए हैं। उनका लेखन बराबर ज़िन्दा और ताज़ा रहा है। अपने समय की समस्त साहित्यिक गतिविधियों से निर्लिप्त और निस्संग रहकर भी वे इतने सामयिक रहे हैं कि आश्चर्य होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बच्चन के परवर्ती काव्य का कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। इन्हीं कारणों से मैंने बच्चन के परवर्ती काव्य का अध्ययन आवश्यक समझा है। मेरे प्रयास में त्रुटियाँ हो सकती हैं लेकिन उनके होने के बावजूद भी इस प्रकार के अध्ययन की उपयोगिता हो सकती है ऐसा मैं सोचता हूँ।

१. इस क्रम में 'आरती और अंगारे' की 'भूमिका का यह कथन ध्यान देने योग्य है— "'इस-उस कोने से आपको लोगों के ऐसे भी स्वर सुनाई देंगे कि अब गीतों का युग बीत गया। आप अचरज मत कीजियेगा यदि ये लोग कल कहते सुने जायँ कि अब हँसने-रोने का, प्रेम करने का, संघर्षरत होने का युग बीत गया है। आज जो ऐसी बातें कह रहे हैं उन्हीं के बाप-चाचों ने जब 'मधुशाला' निकली थी तो कहा था, 'यह मस्ती का राग अलापने का युग नहीं है', 'निशा निमन्त्रण' निकला तो कहा था, 'यह रोदन-क्रन्दन का युग नहीं है।' 'सतरंगिनी' निकली तो कहा था, 'यह प्रेम के तराने उठाने का युग नहीं है।' और उनके बेटों-भतीजों ने 'प्रणय पत्रिका' निकली तो कहा, 'यह तो बीते युग की बातें हैं।'" इससे स्पष्ट है कि बच्चन न केवल अपने समय के साहित्य आन्दोलनों से वरन् समकालीन साहित्यिक मूल्यांकनों से भी अप्रभावित रहे हैं।

परवर्ती काव्य का प्रारम्भ

बच्चन ने 'आरती और अंगारे' के एक गीत में लिखा है—

मेरी मृदुता इस दुनिया में
बहुत गई रगड़ी मसली है
किन्तु कठोर नहीं हो पाई
है तो लगता है असली है

लेकिन यह असली मृदुता भी, जिसके बारे में कवि को पूरा विश्वास था कि वह कठोर नहीं होगी, धीरे-धीरे कठोर होती चली गई, यह बच्चन का परवर्ती काव्य सिद्ध करता है। इस कठोरता का पहला सबूत तो यही है कि गीतकार कवि गीत लिखना छोड़कर मुक्त छन्द की कविताएँ लिखने लगता है। अपने परवर्ती रचना-काल में न केवल छन्दों में वरन् विषय और भाषा में भी वह परिवर्तन कर देता है। यह परिवर्तन पहले एक छोटे-से अंकुर के रूप में उसकी कविता की धरती पर अंकुरित होता है और फिर बढ़ते-बढ़ते इतना बड़ा और छतनार हो जाता है कि इसकी छाया में गीत का सुकुमार पौधा पियराकर सूख जाता है। फिर तो बच्चन की कविता-भूमि पर यथार्थ के विशाल बरगद की घनी छाँह ही छाँह नज़र आती है।

बच्चन ने 'प्रणय पत्रिका' की भूमिका में लिखा है—"केम्ब्रिज से चलते समय जब मैं अपने कागज़-पत्तर समेटने लगा तो मैंने देखा कि डाक्टरेट के लिए अपनी थीसिस लिखने के अलावा मैंने इन दो वर्षों में एक सौ ग्यारह कविताएँ भी लिखीं जिनमें दस-बारह मुक्त छन्द की रचनाएँ थीं, शेष गीत थे।" इन दस-बारह मुक्त छन्द की रचनाओं से ही परवर्ती काव्य की प्रवृत्तियों का प्रारम्भ मानना चाहिये।

इंगलैण्ड में रहते हुए बच्चन आधुनिक यूरोपीय मानस के सम्पर्क में आये, जो निश्चय ही तत्कालीन भारतीय मानस से भिन्न था। इसलिए उनमें उस यथार्थवादी आधुनिक मनोदशा का प्रबलता से अंकुरित हो उठना स्वाभाविक था जो भारत में रहते हुए सम्भव भी हो पाता या नहीं, कुछ निश्चित रूप से

नहीं कहा जा सकता। वैसे मेरा अनुमान है कि बच्चन भारत में रहते हुए भी यथार्थ के बढ़ते हुए दबाव को अनुभव करते और इस कारण उनके विषय और शैली में परिवर्तन होता।

स्वातंत्र्योत्तर भारतवर्ष में कवि, लेखक और विचारक आदि सन् १९४७ के बाद कुछ वर्ष तक प्रतीक्षा में रहे। यह स्थिति बहुत कुछ सन् १९५० से लेकर सन् १९५५-५७ तक रही। इसके बाद धीरे-धीरे उनकी अपेक्षाओं को निराशा के अनुभव होने लगे और ठोकरें लगने लगीं। इस प्रकार यह काल भारतीय कवियों, लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों और विचारकों के मोह भंग का काल है। इसलिए यह सोचना स्वाभाविक है कि इस समय तक यदि बच्चन यूरोप नहीं भी जाते, यहीं पर रहते, तो भी उनकी असली मृदुता यथार्थ के बढ़ते हुए दबावों के बीच दब-पिसकर कठोर होती जाती।

स्वतंत्रता के पूर्व भारतीय कवियों, कलाकारों और बुद्धिजीवियों को जिस कुचलन-मसलन का सामना करना पड़ता था वह बाद के कुचलन-मसलन से भिन्न था। वह उनके मनोबल को तोड़ने वाला नहीं था। इसके विपरीत वह उन्हें कुचलते-मसलते हुए भी उत्तेजित करता था, उनकी गति को तीव्र करता था। बच्चन ने भी स्वतंत्रता के पूर्व ऐसे कुचलन-मसलन का सामना किया था—विशेष कर 'मधु कलश' के रचना-काल में। 'मधु कलश' की भूमिका में बच्चन ने लिखा है—"इधर तो मैं और मेरे परिवार के लोग दुर्भाग्य, मौत और बीमारी से संत्रस्त और आतंकित थे, उधर साहित्य की दुनिया में कलम और ज़बान दोनों ही मेरे खिलाफ चल रही थी।···कोई मेरे उद्‌गारों को वासनामय बताता, कोई मेरे गान को निराशा से भरा, कोई मेरी पैरोडी लिखता, कोई मेरा उपहास करता, कोई मुझे पथ-भ्रष्ट कहता।" लेकिन तब कवि का स्वर रुद्ध नहीं हो सकता था। किसीका भी स्वर तब रुद्ध नहीं हुआ था, चाहे वह कवि हो, लेखक हो, पत्रकार हो या राजनीतिक बन्दी या नेता। यह एक अजीब विडम्बना रही कि देश के लेखकों, कलाकारों और विचारकों का जो दृढ़ मनोबल दमन की चक्कियों में पिसकर, अन्याय के कोड़े खाकर और जेल की सीखचों में कैद होकर नहीं टूटा वह स्वतंत्रता के बाद खुली फिजा में निराशा और किंकर्तव्यविमूढ़ता का अनुभव कर ऐसा टूटा कि फिर अपने पूर्व रूप में कहीं दृष्टिगत नहीं हुआ। इसलिए ऐसा सोचना बिल्कुल स्वाभाविक है कि यदि बच्चन विदेश नहीं भी जाते, यहीं रहते, तो भी उनमें वह परिवर्तन घटित होता ही, जो इंगलैण्ड में रहते हुए घटित हुआ।

बच्चन के परवर्ती काव्य का प्रारम्भ जब मैं उन दस-बारह मुक्त छन्द की

कविताओं से, जो इंगलैण्ड के प्रवास-काल में लिखी गई, मानता हूँ तो उस आपत्ति का स्मरण हो आना स्वाभाविक है जो कुछ लोग यह कहकर उपस्थित कर सकते हैं कि इंगलैण्ड में रहने के पूर्व भी बच्चन एक बड़ी मुक्त छन्द की कविता 'बंगाल का काल' लिख चुके थे जिसका विषय भी उनके गीतकार के विषय को देखते हुए पूर्णतः बदला हुआ था। तो क्या परवर्ती काव्य के बीज 'बंगाल का काल' में नहीं ढूंढ़े जा सकते ? क्या उनके परवर्ती काव्य के विकास-क्रम को वहीं से नहीं जोड़ा जा सकता ? इसका समुचित उत्तर देकर ही आगे बढ़ना सुविधाजनक होगा।

कविता लिखने की प्रेरणा साधारणत: दो प्रकार से प्राप्त होती है—एक तो धक्के और झटके के रूप में और एक धीमी-धीमी आँच के रूप में। कुछ प्रेरणाएँ ऐसी होती हैं जो बहुत बाह्य, तीव्र और वेगमयी होती हैं। उनका प्रभाव इतना तात्कालिक होता है कि कवि उससे उबर नहीं सकता, उसके प्रभाव के कारण तत्काल ही कुछ लिखना होता है। युद्ध, अकाल, महामारी आदि ऐसी ही प्रेरणाएँ हैं। लेकिन एक प्रेरणा ऐसी भी होती है जो इतने बाह्य और स्थूल रूप में सम्मुख नहीं आती लेकिन धीरे-धीरे कलाकार के मन में रस-बस जाती है और इस प्रकार उसकी चेतना को इस कदर आच्छन्न कर लेती है कि उसके प्रभाव-मंडल से मुक्त नहीं हुआ जा सकता। तब बहुधा उसके कारण सृजन का रूप और स्तर निर्धारित होता है। इस प्रकार की प्रेरणा कवि के व्यक्तित्व का अंग हो जाती है। इसलिए पहली की तुलना में इसका अधिक महत्त्व समझा जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होगा कि 'बंगाल का काल' लिखने की प्रेरणा कवि को प्रथम ढंग से मिली होगी। 'बंगाल का काल' की भूमिका में कवि ने लिखा है—"बंगाल का अकाल बहिर्मुखी उद्‌भावना का ही क्षेत्र था। सन् १९४३ के प्रारम्भ में बंगाल के अकाल का रोमांचकारी विवरण समाचारपत्रों में आने लगा। स्वाभाविक था कि इस विषय पर भावप्रवण कवियों की लेखनी उठती। इस विषय पर कवियों की प्रतिक्रिया दो प्रकार की हो सकती थी। एक तो बंगाल के दुर्दिन का वर्णन करना और उसके प्रति देश की सहानुभूति जताना। प्राय: कवियों ने यही किया क्योंकि १९४२ के उग्र दमन ने लेखकों की निबों की नोक तोड़ दी थी। मैंने बंगाल के विषय में जो जाना, सुना, पढ़ा था उससे उसे दया का पात्र समझना मेरे लिए अपराध करने के समान था। मेरी प्रतिक्रिया दूसरी प्रकार की हुई। बंगाल की दयनीय दशा पर मैं इतना अधिक विचलित नहीं हुआ जितना उसकी नपुंसक सहिष्णुता पर जिससे उसने मानवा स्वार्थ-प्रेरित इस दानवी ईति-

भीति को मष्ट मारकर झेल लिया। बंगाल में अकाल के कोई भी प्राकृतिक कारण उपस्थित नहीं हुए थे, फिर भी जैसा कि उन दिनों पत्रों में लिखा गया था, उस 'मैन मेड फेमीन' से बंगाल के लगभग आधे करोड़ नर-नारी और निरीह बच्चे महाकाल के गाल में समा गये। बंगाल के कवियों में किस प्रकार की प्रतिक्रिया हुई उसे मैं विस्तार से नहीं बता सकता। अपने बंगाली मित्रों से मैंने जो सुना उससे तो मेरी यही धारणा हुई कि बंगाल की जनता के समान बंगाल की सरस्वती भी इस विपदा को मौन रहकर ही ओड़ गई। मेरे एक मित्र ने मेरी रचना लखनऊ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर डी० पी० मुखर्जी को सुनाई तो उन्होंने मुझे एक पत्र लिखा, जिसका एक वाक्य मुझे याद है—बंगाल ने इस काल का अनुभव अपनी हड्डियों में किया, रक्त और नसों में किया और अपनी समस्त शक्ति लगाकर अपना मुँह बन्द रखा।

"मैं जानता था कि जो मैं लिखूंगा, न वह छप सकेगा, न वह बंगाल तक पहुँच सकेगा, और न उसका कोई तात्कालिक प्रभाव होगा, पर मैं अपनी व्यग्रता को वाणी देने को विवश हो गया। यह पूरी कविता जो लगभग १००० पंक्तियों में है करीब ३६ घण्टों के अनवरत परिश्रम से लिखी गई। सुबह बैठा तो न नाश्ते के लिए उठा, न दिन के खाने के लिए, न चाय के लिए, न रात के खाने के लिए। बारह बजे रात को दिमाग चक्कर खाने लगा। मैं थोड़ी देर को लेट गया पर नींद नहीं आ रही थी। सोचा, इससे तो अच्छा है बैठकर काम ही कर डालूं। दूसरे दिन अपराह्न में जाकर मैंने रचना के नीचे अपने हस्ताक्षर किए।" इस प्रकार स्पष्ट है कि 'बंगाल का काल' के पीछे बाह्य और स्थूल प्रेरणा कार्य कर रही थी। ऐसी प्रेरणाएँ स्थायी नहीं होतीं। ये समय पर अपना प्रभाव डालकर विलीन हो जाती हैं। बच्चन के साथ भी ऐसा ही हुआ। 'बंगाल का काल' की परम्परा में फिर कुछ नहीं लिखा जा सका। इसलिए बच्चन के काव्य के वस्तुवादी स्वरूप को, जिसकी परवर्ती रचना-काल में प्रधानता है, वहाँ से समुचित रीति से शुरू हुआ नहीं समझा जाना चाहिये। यथार्थ के बढ़ते हुए निरन्तर दबाव तो कवि पर बाद में पड़ने शुरू हुए और उसके चलते विषय और शैली में परिवर्तन हुए।

'बंगाल का काल' की संगति परवर्ती रचनाओं से ठीक-ठीक इसलिए भी नहीं बिठाई जा सकती कि वहाँ उनके कथन का ढंग नितान्त आवेशमूलक है। इस रूप में उनमें यथार्थ के अनुभवों की उस संजीदगी का अभाव है जो बाद की रचनाओं का प्रमुख गुण है। बच्चन के पूर्ववर्ती काव्य में उनका युवकोचित लहजा स्पष्ट है, चाहे वह 'मधुशाला', 'मधुबाला' का लहजा हो या 'मधुकलश'

का। यही युवकोचित उत्साह, उल्लास, आक्रोश 'बंगाल का काल' में भी है। उसमें यथार्थ उतना नहीं है जितना यथार्थ के कारण उत्पन्न क्षोभ। पूरी कविता पढ़ जाइये, अकाल से पीड़ित बंगाल की धरती, उसके नर-नारी, उजड़े गाँव, घर, वीरान गलियाँ और प्रमुख नगरों की सड़कों पर चलते हुए भूखे नर-नारियों का हजूम, उनकी दयनीय दशा का लाभ उठाते हुए चन्द मोटे लोग, इन सबकी तस्वीर कहीं नहीं मिलती। अकाल-पीड़ित जनता का ऐसा वर्णन जो हमारे रोंगटे खड़े कर दे 'बंगाल का काल' में नहीं मिलता। इसलिए 'बंगाल का काल' यथार्थमूलक उतना नहीं है जितना भावुकतामूलक। यहां कवि को यथार्थ की एक उड़ती हुई चिनगारी ने छुआ-भर है और उसीसे कवि की भावना का आकाश तप्त हो उठा है। 'बंगाल का काल' में यथार्थ का तिल-तिल होता हुआ अनुभव नहीं है ; उस अनुभव को संजीदगी से व्यक्त करने का प्रयास नहीं है। इसलिए बदले हुए विषय और बदली हुई शैली का काव्य होकर भी वह पूर्व-वर्ती काव्य-परम्परा में ही अन्तर्भुक्त होगा। इस दृष्टि से परवर्ती काव्य का व्यवस्थित प्रारम्भ हम बच्चन के काव्य संकलन 'बुद्ध और नाचघर' से प्रारम्भ हुआ मानेंगे।

बुद्ध और नाचघर

बच्चन ने 'प्रणय पत्रिका' के एक गीत में लिखा है—

मार होती है बड़ी सबसे समय की
ख्याल पर, अब देखता हूँ
तुम न वह अब, मैं न वह अब, वह न मौसम,
वह तबीयत, वह ज़माना

इसीसे मिलती-जुलती बात 'आरती और अंगारे' के एक गीत की इन पंक्तियों में है—

स्वप्न का वातावरण हर चीज़ के
चारों तरफ़ मानव बनाता
लाख कविता से, कला से पुष्ट करता
अंत में वह टूट जाता
सत्य की हर शक्ल खुलकर आँख के
अन्दर निराशा झोंकती है

सत्य और समय का यह प्रभाव बच्चन की परवर्ती काव्य-रचना पर खूब पड़ा है। यह प्रभाव कहाँ से पड़ना शुरू हुआ है हम इसका संकेत अन्यत्र दे चुके हैं। अब उनके काव्य-संकलन 'बुद्ध और नाचघर' को लेकर परवर्ती काव्य-रचना का विवेचन प्रासंगिक होगा।

'बुद्ध और नाचघर' बच्चन के काव्य में एक अभिनव मोड़ का सूचक है। इस संकलन से ही कवि का बदला हुआ स्वरूप भरे-पूरे रूप में सामने आता है। इस दृष्टि से बच्चन के काव्य में घटित परिवर्तन को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं—

१. छन्दगत परिवर्तन[1]
२. विषयगत परिवर्तन

१. छन्दगत परिवर्तन शैलीगत परिवर्तन में ही अन्तर्भुक्त हो सकता है। लेकिन छन्द कविता का अपेक्षाकृत अधिक वाह्य रूप है इसलिए उसका उल्लेख अलग से किया जा रहा है। शैली का, छन्द की तुलना में, कविता के विषय से अधिक घनिष्ठ संबंध होता है।

३. शैलीगत परिवर्तन

ये तीनों ही प्रकार के परिवर्तन 'बुद्ध और नाचघर' में दृष्टिगत होते हैं। इस अर्थ में बच्चन के काव्य में परिवर्तन का एक चक्र यहाँ पूरा होता है। काव्य के किसी एक पक्ष का परिवर्तन वास्तव में पूरा परिवर्तन नहीं है। हम 'बंगाल का काल' का विवेचन करते हुए यह बता चुके हैं कि बदले हुए विषय और बदली हुई शैली में होकर भी वह बहुत कुछ पूर्ववर्ती काव्य की परिधि के अन्तर्गत ही है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि वहाँ कवि का लहजा नहीं बदला है। वास्तव में सही परिवर्तन तो उसे ही माना जायगा जो सर्वाङ्गीण होगा। यदि विषय में परिवर्तन होने से शैली न बदले, और शैली में परिवर्तन होने से भी लहजा न बदले, तो परिवर्तन का चक्र पूरा हुआ है, ऐसा नहीं माना जा सकता। बदले हुए विषय का प्रभाव शैली पर, कथन-भंगिमा पर पड़ता ही है। यदि शैली नहीं बदलती तो मानना होगा कि भावों और विचारों का परिवर्तन उतना प्रभावकारी नहीं है।

'बुद्ध और नाचघर' में जिन तीन प्रकार के परिवर्तनों का उल्लेख किया गया है उन्हें क्रम-क्रम से देखना होगा। इस दृष्टि से पहले छन्दगत परिवर्तन को लें। परिवर्तन का यह सबसे बाहरी और स्थूल रूप है। इसलिए सबसे पहले इसीका विवेचन स्वाभाविक है।

'बुद्ध और नाचघर' की भूमिका में कवि ने लिखा है—" 'बुद्ध और नाचघर' की कविताओं में एक बाहरी साम्य यह है कि ये सबकी सब मुक्त छन्द में लिखी गई हैं। कभी इसे स्वच्छन्द छन्द अथवा मुक्त काव्य भी कहा जाता है।" वैसे मुक्त छन्द शब्द में कवि को विरोधाभास भी दिखाई देता है—"मुक्त का अर्थ है स्वच्छन्द और छन्द का अर्थ है बँधा हुआ (छन्दांसि छादनात्—यास्काचार्य), कविता के सन्दर्भ में मात्रा, लय और तुक में। स्वच्छन्द और बँधा हुआ एक साथ ही कैसे ?" इसलिए वे 'बुद्ध और नाचघर' की मुक्त छन्द की कविताओं को विषम लय की रचनाएँ कहना उचित समझते हैं। वैसे मुक्त छन्द को एक नया नाम देकर वे पाठकों और आलोचकों को चौंकाना नहीं चाहते, इसलिए मुक्त छन्द शब्द का ही प्रयोग करते हैं।

बच्चन ने कवि-जीवन का प्रारम्भ मुक्त छन्द से ही किया था। 'बुद्ध और नाचघर' की भूमिका में उन्होंने लिखा है—"आपको एक मज़े की बात बताऊँ। मैंने कविता लिखनी मुक्त छन्द से ही आरम्भ की थी। मेरी उम्र चौदह-पन्द्रह वर्ष की होगी। उस समय कलकत्ता से निकलनेवाले हिन्दी के हास्यरस के पत्र 'मतवाला' की बड़ी धूम थी। उन दिनों 'मतवाला' में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी

'निराला' की कविताएँ मुक्त छन्द में प्रकाशित होती थीं। मुझे उस समय न छन्द-ज्ञान था, न मात्रा-ज्ञान पर कविता लिखने की सुगबुगाहट मन में हुआ करती थी। मुक्त छन्द की कविता ने जैसे मेरे रास्ते की रुकावटें हटा दीं। जब बिना छन्द, बिना समलय मात्रा के कविता की जा सकती थी और वह सम्मानपूर्वक पत्रों में छप सकती थी तो मेरे लिए ही क्यों छन्द-मात्रा का ज्ञान जरूरी हो!" इस प्रकार बच्चन ने मुक्त छन्द में लिखना शुरू किया लेकिन यह शुरूआत सुनिश्चित शुरूआत नहीं मानी जा सकती। इसलिए कवि भी स्वीकारता है कि वास्तव में मुक्त छन्द में उसकी पहली रचना 'बंगाल का काल' है जो सन् १९४३ में लिखी गई थी। मुक्त छन्द की उनकी दूसरी रचना भारत-विभाजन-संबंधी थी जो विभाजन के पूर्व लिखी गई थी और विभाजन के बाद नष्ट कर दी गई। इस प्रकार स्पष्ट है कि मुक्त छन्द का प्रयोग बच्चन 'बुद्ध और नाचघर' के पहले से भी करते रहे थे। तो फिर 'बुद्ध और नाचघर' के मुक्त छन्द को नवीनता का पर्याय क्यों माना जाय और छन्दगत परिवर्तन को यहाँ से लागू क्यों माना जाय? इसके कारण हैं।

'बुद्ध और नाचघर' के पहले भी बच्चन ने मुक्त छन्द की कविताएँ लिखीं। लेकिन 'बुद्ध और नाचघर' के मुक्त छन्द और पहले के मुक्त छन्द में अंतर है। 'बंगाल का काल' में उन्होंने जिस मुक्त छन्द का प्रयोग किया था वह उनके कंठ में अनायास आ बसा था। इस संबंध में बच्चन ने लिखा है—"जब मैंने अपनी व्यग्रता और अपने आवेश को वाणी देने का प्रयत्न किया तो दस-बारह बरस की आदत और अभ्यास के बावजूद छन्दों की सारी कड़ियाँ तड़ककर टूट गईं। विषय नया था, उद्भावना नयी थी, दृष्टिकोण नया था। मुझे आश्चर्य नहीं हुआ कि मेरी अभिव्यंजना ने एक नया बाना धारण किया।"[१] लेकिन 'बंगाल का काल' के बाद मुक्त छन्द के विषय में कवि की धारणा में परिवर्तन हो जाता है। कवि ने लिखा है—"सन् १९४४ के बाद से कभी-कभी मेरे मन में इस प्रकार की भावनाएँ उठती थीं जिन्हें लगता था मैं गीतों में नहीं बाँध सकूँगा और मुक्त छन्द ही उनके लिए उपयुक्त माध्यम है।"[२] इस प्रकार स्पष्ट है कि अब मुक्त छन्द कवि के लिए अनिवार्य-सा होता जा रहा है। 'बंगाल का काल' में मुक्त छन्द उनके कंठ में अनायास आ बसता है लेकिन उसके बाद उसे अपने कंठ में बसाने की मजबूरी अनुभव होती है। इस प्रकार बच्चन की

१. 'बुद्ध और नाचघर', अपने पाठकों से, पृ० १२

२. वही, पृ० १३

मुक्त छन्द-संबंधी धारणा में क्रम-क्रम से परिवर्तन हुआ है।

सन् १९५२ में बच्चन डब्लू०बी० ईट्स पर अनुसंधान करने के लिए केम्ब्रिज गये। इस क्रम में उन्हें आधुनिक अंग्रेज़ी कविता का विशेष अध्ययन करना पड़ा। इस क्रम में उन्होंने देखा कि "आधुनिक समय में काव्य के क्षेत्र में अधिक तत्त्वपूर्ण बातें मुक्त छन्द के माध्यम से ही व्यक्त की गई।"[1] इंगलैंड में स्वाध्याय करते हुए एक और बात उनके सामने स्पष्ट हुई। उन्होंने अनुभव किया कि "कुछ विषय, कुछ उद्भावनाएँ, कुछ विचार करने की प्रक्रियाएँ ऐसी हैं जो मुक्त छन्द में ही प्रभावपूर्ण ढंग से व्यक्त की जा सकती हैं।"[2]

मुक्त छन्द का आधुनिक रूप उसके पूर्वकालीन रूप से बहुत भिन्न है। चाहे अंग्रेजी मुक्त छन्द को लें या हिन्दी मुक्त छन्द को, यह अंतर स्पष्ट है। अंग्रेज़ी कविता में मुक्त छन्द का प्रयोग अमरीकी कवि वाल्ट व्हिटमैन ने किया। लेकिन क्या वाल्ट व्हिटमैन का मुक्त छन्द और आधुनिक अंग्रेज़ी कवियों का मुक्त छन्द एक ही है? यही बात हिन्दी के संबंध में भी कही जा सकती है। जिस मुक्त छन्द का प्रयोग 'निराला' ने किया क्या बाद में प्रयुक्त मुक्त छन्द भी वही मुक्त छन्द है? 'निराला' के मुक्त छन्द को हम छायावादी मुक्त छन्द कह सकते हैं। उसके बाद प्रगतिवादियों ने भी मुक्त छन्द का प्रयोग किया। लेकिन उनके मुक्त छन्द छायावादियों के मुक्त छन्द से बहुत भिन्न हैं। और उनसे भी भिन्न हैं प्रयोगवादियों और नयी कविता के कवियों के मुक्त छन्द। इसलिए मुक्त छन्द-मात्र होने से सब मुक्त छन्द एक जैसे नहीं हो जायेंगे। इसीलिए बच्चन का 'बंगाल का काल' का मुक्त छन्द अपने किस्म का है और 'बुद्ध और नाचघर' का मुक्त छन्द अपने किस्म का। दोनों में साम्य केवल बाहरी है, वैषम्य आंतरिक है और वही अधिक प्रमुख है।

आधुनिक मुक्त छन्द पर विचार करते हुए अंग्रेज़ी कविता में प्रयुक्त आधुनिक मुक्त छन्दों के स्वरूप और स्वभाव को नहीं भुलाया जा सकता। उसकी विशेषता बतलाते हुए बच्चन लिखते हैं—"आधुनिक अंग्रेज़ी कविता का स्वर आवेश-प्रमत्त का नहीं, गम्भीर विचारक का है, वह ऐसे वक्ता का है जो ऐसे अनुभवों को वाणी दे रहा है जो उसके ही नहीं उसके साथियों के भी हैं, वह कैसे किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहे—कवित्व की गरिमा से कहना दूसरी चीज़ है; वह ऐसे व्यक्ति का है जो अपने अन्तर्द्वन्द्वों के विश्लेषण में अपने युग,

१. 'बुद्ध और नाचघर', अपने पाठकों से, पृ० १३
२. वही, पृ० १३

अपने समाज का विश्लेषण कर रहा है, अथवा जग-जीवन की विविध असम्बद्धता में संबंध खोज रहा है। इसको व्यक्त करने के लिए एक ऐसी शैली की आवश्यकता होती है जिसमें वार्तालाप की स्वाभाविकता हो, जीवन की साँसों का उतार-चढ़ाव हो, फिर भी वह भाव और विचार की विदग्धता से इतनी अनुप्राणित हो कि गद्य के धरातल पर गिरकर निर्जीव और सिलपट न हो जाय।"[1] वास्तव में आधुनिक मुक्त छन्द के ये ही प्रमुख लक्षण हैं—चाहे वह मुक्त छन्द किसी भी भाषा में लिखा जा रहा हो। 'बुद्ध और नाचघर' में बच्चन ने मुक्त छन्द की इसी धारणा को हृदयंगम करना चाहा है। अब यह दूसरी बात है कि इसमें उसे कहाँ तक सफलता मिली है। यह विवेच्य है। इस प्रकार स्पष्ट है कि 'बुद्ध और नाचघर' का मुक्त छन्द 'बंगाल का काल' का मुक्त छन्द नहीं है। इसीलिए मैंने 'बुद्ध और नाचघर' के विवेचन क्रम में छन्दगत परिवर्तन का उल्लेख किया है।

विषयगत परिवर्तन को ध्यान में रखकर यदि हम 'बुद्ध और नाचघर' का विवेचन करें तो केवल शीर्षकों के उल्लेख से भी बात स्पष्ट हो सकती है। आह्वान, सृष्टि, पूजा, तप और वरदान से लेकर शोणित की प्यास, हिन्दू और मुसल्मान, नया चाँद, डैफोडिल, तुम्हारी नज़रों में वे, उनकी नज़रों में तुम, रेगिस्तान का सफर, दोस्तों के सदमे, कड़ुवा अनुभव, शैल विहंगिनी, पपीहा और चील-कौए, चोटी की बरफ, युग का जुआ, चाँद और बिजली की रोशनी, नीम के दो पेड़, दिल्ली के बादल, नागिन और देवकन्या, जीवन के पहिये के नीचे, जीवन के पहिये के ऊपर और बुद्ध और नाचघर ये सभी विषय सम्मिलित हैं। बच्चन के और किसी काव्य-संकलन में विषय-वस्तु का यह वैविध्य दृष्टिगत नहीं होता। उनके पहले के काव्य-संकलनों में जहाँ विषय-वस्तु की एकरसता है वहाँ 'बुद्ध और नाचघर' में वैविध्य है। सपनों और प्यार की चर्चा यहाँ भी है लेकिन एक बदले हुए रूप में है। 'शैल विहंगिनी' शीर्षक कविता में कवि लिखता है—

स्वप्न अपने वास्ते हैं,
स्वप्न अपने प्राण-मन को
गुदगुदाने के लिए हैं,
स्वप्न अपने को भ्रमाने,
भूल जाने के लिए हैं

१. 'बुद्ध और नाचघर', अपने पाठकों से, पृ० १५

फूल कब वे हैं खिलाते ?
रश्मि कब सोती जगाते ?
और कब वे
गंध का घूँघट उठाते ?
तोड़ते दीवार कब वे ?
खोलते हैं
पींजरों का द्वार कब वे ?

इस प्रकार परिचित विषयों को भी 'बुद्ध और नाचघर' में एक नया परिप्रेक्ष्य, एक नयी विचारणा मिली है। वास्तव में विषय का नयापन केवल विषय के नयेपन को लेकर नहीं होता। विषय पुराना होने पर भी परिप्रेक्ष्य और विचारणा बदल जाने पर उसमें नयापन आ जाता है। जीवन के कुछ मूल विषय होते हैं जैसे प्यार, वासना, मिलन, सपना आदि। इन्हें त्याग देना कोई जरूरी नहीं है। लेकिन यह आवश्यक है कि इनका युगानुरूप उल्लेख और उपयोग हो। इस दृष्टि से परिचित विषयों का उल्लेख होते हुए भी 'बुद्ध और नाचघर' में एप्रोच की नवीनता है जो पूर्ववर्ती काव्य से भिन्न है। कवि कहता है—

देखना सपना
उसे फिर सत्य करने के लिए
तैयार होना, यत्न करना
स्वेद से सनना
नहाना अश्रु से भी
रक्त से भी
मूल्य है सबका
महत्ता है सभी की
कुछ न आये हाथ तो भी

पहले के परिचित विषयों के अलावा और कितने ही नये विषयों को कवि इस संकलन में छूता है। ये विषय इस रूप में बच्चन के और किसी संकलन में नहीं आये। उदाहरण के लिए दिल्ली के बादल की ये पंक्तियाँ लीजिये—

हाँ, मुगल गार्डन
औ' उसके छोटे-मोटे
संस्करणों में
अंग्रेज़ी कलि-कुसुमों की जो रंगीनी है,
जो खुशबू भीनी-भीनी है,

उसपर तू अपने
कितने अश्रु गिरायेगा ।
उनको गिनती के
लोग देखकर खुश हो लें,
पर दूर-दूर से उनको केवल
सूँघ-सूँघकर
देश नहीं जी पाएगा ।

'बुद्ध और नाचघर' में सबसे पहली बार बच्चन ने उस आक्रोश और क्षोभ को वाणी दी है जो विषम सामाजिक व्यवस्था में घिरे बुद्धिजीवियों के मन का सहज भाव है। वास्तव में यह आक्रोश और क्षोभ का भाव अपेक्षाकृत अधुनातन है। नयी कविता के कवि भवानी प्रसाद मिश्र ने अपनी सुप्रसिद्ध कविता गीतफरोश में जिस भाव को अत्यन्त व्यंग्यात्मक ढंग से ध्वनित किया है उसे बच्चन ने अपेक्षाकृत तीखी आक्रोशपूर्ण और दो टूक शब्दावली में इस प्रकार कहा है—

चाट कर तलवे
हिलाकर पूँछ
मैंने नहीं कमाई अपनी रोटी
रानी रूठेंगी लेंगी अपना सुहाग
राज रूठेंगे लेंगे अपना राज
मेरा कलम रहे बरकरार

कलाकारों और बुद्धिजीवियों को व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की रक्षा के भाव ने हाल से आन्दोलित करना शुरू किया है। हिन्दी कविता में निराला बहुत बड़े विद्रोही हो गये हैं लेकिन उन्हें भी ऐसी बातें कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी, यद्यपि यह सही है साहित्यकार के व्यक्तित्व को विघटित करनेवाली स्थितियाँ तब भी मौजूद थीं। लेकिन इधर के वर्षों में उस स्थिति में और अधिक इज़ाफा हुआ है। इसलिए आधुनिक कवि को व्यंग्य के सहारे या आक्रोश के ज़रिये अपना मंतव्य प्रकट करना पड़ता है। बच्चन ने भी लिखा है—

जिस दिन झूठे, चोर, चालबाज़
चापलूस और चुगलखोर
बन जायेंगे कोई ताकत
कोई प्रभाव
निश्चित करेंगे तुम्हारा-मेरा
उतार चढ़ाव

उसी दिन
विधाता के मुँह पर थूक
दुनिया को लगा के दो लात
कर लूँगा मैं आत्मघात

यहाँ आक्रोश अपेक्षाकृत अधिक तीखा हो गया है। बाद के कवि झूठे, चोर, चालबाज़, चापलूस और चुगलखोर लोगों की ताकत और प्रभाव से अच्छी तरह अवगत हो जाते हैं। वे यह जान जाते हैं कि वे ही अच्छे-भलों का उतार-चढ़ाव निश्चित करते हैं। लेकिन विधाता के मुँह पर थूकना और दुनिया को दो लात लगाना और आत्मघात करना उतना आसान नहीं है। इसलिए तब व्यंग्य की मार करने के अलावा और कोई चारा नहीं रहता। यद्यपि बच्चन 'बुद्ध और नाचघर' में इस स्थिति तक नहीं पहुँचे हैं तथापि आगे चलकर वह ऐसे पदार्थ से अच्छी तरह अवगत हो जाते हैं। इसीलिए तो उन्होंने 'ये चट्टानें' में लिखा है—

सिंह का बल
स्यार के छल से पराजित
मूल्य का विघटन यही है।

यद्यपि 'बुद्ध और नाचघर' में यथार्थ के सभी रूप-रंग नहीं हैं तथापि वहाँ उस वैविध्य का समावेश होना शुरू हो गया है जो किसी वस्तुवादी कवि के कृतित्व में सहज ही दृष्टिगत होता है। इसलिए विषय की दृष्टि से 'बुद्ध और नाचघर' को परिवर्तन का एक निश्चित उपक्रम मानना उचित ही है।

शैलीगत परिवर्तन का उल्लेख करते हुए सबसे पहले भाषागत परिवर्तन का उल्लेख आवश्यक है। 'बुद्ध और नाचघर' की भाषा आधुनिक कविता की भाषा है। यद्यपि बच्चन की कविता में भाषा का आभिजात्य नहीं मिलता और छायावादियों की तुलना में उनकी प्रारम्भिक भाषा भी जीवन और बोलचाल के निकट है तथापि 'प्रणय पत्रिका' तक की उनकी भाषा एक गीतकार की भाषा है। उस भाषा को आधुनिक कविता की भाषा नहीं कह सकते।

बच्चन के काव्य में भाषागत परिवर्तन के चिह्न 'आरती और अंगारे' से मिलने शुरू हो जाते हैं। यद्यपि 'आरती और अंगारे' गीतों का संग्रह है तथापि इसकी भाषा के तेवर और अन्दाज़ 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' की भाषा से भिन्न है। उदाहरण के लिए एक गीत लीजिए—

गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक्त बहुतेरा पड़ा है।
सख्त पंजा, नस-कसी चौड़ी कलाई

ग्रौर बल्लेदार बाँहें,
ग्रौर ग्राँखें लाल चिनगारी सरीखी,
चुस्त ग्रौ' तीखी निगाहें,
हाथ में घन ग्रौर दो लोहे निहाई
पर धरे तो, देखता क्या;
गर्म लोहा पीट, ठंडा पीटने को वक्त बहुतेरा पड़ा है ।

भाषा का यह रूप 'ग्रारती ग्रौर ग्रंगारे' में यत्र-तत्र देखा जा सकता है। लेकिन जैसा कि मैंने कहा 'ग्रारती ग्रौर ग्रंगारे' गीतों का संग्रह है इसलिए इसकी भाषा ग्रधिकतर 'प्रणय पत्रिका' की भाषा-सी ही है। कुछ थोड़े-से गीतों की भाषा को यदि ग्रपवाद स्वरूप मान लें तो बाकी गीतों की भाषा गीतकार कवि की भाषा ही है। जहाँ भाषा का ग्रपेक्षाकृत ग्रधिक सबल, यथार्थ ग्रौर ग्रामफहम रूप है भी, गीत विधा को देखते हुए, वह दोष ही कहा जायगा। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

(१) तुम टूटोगी तो लतिका का दिल टूटेगा,
मैं निकलूँगा तो चादर चिरबत्ती होगी।

(पृ० २३८)

(२) तुमने कुछ ऐसा गोलमाल कर रक्खा था,
खुद ग्रपने घर में नहीं ख़ुदा का राज़ मिला

(पृ० २३०)

(३) दर्पण से ग्रपनी चापलूसियाँ सुनने की
सबको होती है, मुझको भी कमज़ोरी थी,
लेकिन तब मेरी कच्ची गदहपचीसी थी
तन कोरा था, मन भोला था, मति भोरी थी,

(पृ० २२१)

(४) कितनों ने ग्रपने जी के बाग उजाड़े हैं
फूलों से तेरी सेज सजे सतखंडे पर,
मेरी सारी पूँजी कुछ मुखरित सपने थे;
ग्रपनी तनहाई की ग्रलसाई भुरहर में

(पृ० २२०)

(५) ग्रौर इस हल्की हवा फुल्की सतह पर
दीखता उड़ता हुग्रा जो,
या कि है कीड़ा-मकोड़ा, या कि रजकण,

या कि जो तिनका, भुआ जो;

(पृ० २१२)

(६) यह नहीं छीलर कि जिसमें
तू छपकछैया करेगा

(पृ० २०३)

(७) हूँ नहीं उन थाकड़ों में जो कि अपनी
चाक पर जग को चलाकर हैं बिठाते

(पृ० २०९)

इन कुछ उदाहरणों में जो चिह्नित शब्द हैं वे साधारण जीवन से ज्यों के त्यों उठा लिये गये हैं। आधुनिक हिन्दी कविता में इससे भी अधिक भदेस शब्दों का प्रयोग होता है लेकिन इस बात को लेकर आपत्ति नहीं की जाती। लेकिन ऐसे शब्दों के प्रयोग का भी अपना सम्मत वातावरण होता है। यदि ऐसे शब्द, बिना प्रसंग का ख्याल किये, जहाँ-तहाँ घुसेड़ दिये जाएँ तो आधुनिक कवि और आलोचक भी आपत्ति करने लगेंगे। इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट होगा कि यद्यपि ये शब्द आधुनिक हिन्दी कविता के लिए अग्राह्य नहीं हैं तथापि गीतों में इनका प्रयोग उचित नहीं माना जाता है। इसलिए भाषा की दृष्टि से 'आरती और अंगारे' 'प्रणय पत्रिका' से आगे नहीं है। इसकी खिचड़ी भाषा गीतों के लिए आदर्श नहीं कही जा सकती। लेकिन 'आरती और अंगारे' की भाषा से यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चन की भाषा बदलने के क्रम में है। यहाँ कवि के गीतों की भाषा पर जन-जीवन की भाषा हावी होती जा रही है। भाषा का यह परिवर्तन, जो 'आरती और अंगारे' में शुरू होता है, या विषय-वस्तु को देखते हुए दोष और अनगढ़पन कहा जा सकता है, 'बुद्ध और नाचघर' में पूरा हो जाता है। वह वहाँ विषय-वस्तु को देखते हुए दोष नहीं रहकर गुण हो जाता है। 'बुद्ध और नाचघर' में बच्चन कहते हैं—

बुरे को परास्त करने के लिए,
आवश्यक है बुराई का हथियार;
बुराई की भूषा, बुराई का वेश;

यह बात कथा और भाषा पर भी लागू होती है। जैसा कथ्य होगा वैसी ही भाषा होगी। इसलिए जो भाषा 'आरती और अंगारे' में खटकती है वह यहाँ सहज स्वाभाविक लगने लगती है। इसलिए यह कहना सही है कि कथ्य सहित भाषा का परिवर्तित रूप 'बुद्ध और नाचघर' में ही देखा जा सकता है।

भाषागत परिवर्तन का विवेचन करते हुए 'बुद्ध और नाचघर' के साथ

'बंगाल का काल' की भाषा पर भी विचार कर लेना ज़रूरी है। जिस प्रकार मुक्त छन्द का प्रयोग 'बुद्ध और नाचघर' में भी है और 'बंगाल का काल' में भी उसी प्रकार साधारण बोलचाल की भाषा 'बुद्ध और नाचघर' में भी है और 'बंगाल का काल' में भी। तो फिर भाषागत परिवर्तन को 'बुद्ध और नाचघर' से प्रारम्भ हुआ क्यों माना जाय? ऐसा क्यों नहीं समझा जाय कि जो भाषा 'बंगाल का काल' की है वही 'बुद्ध और नाचघर' की है। तो फिर 'बुद्ध और नाचघर' में भाषा का परिवर्तित रूप कहाँ है? हमें इस प्रश्न का उत्तर देना होगा।

यद्यपि यह सही है कि 'बंगाल का काल' की भाषा वह नहीं है जो 'सतरंगिनी', 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' की भाषा है फिर भी यह तो कहना ही होगा वह 'बुद्ध और नाचघर' की सी भाषा भी नहीं है। जिस प्रकार 'बंगाल का काल' के मुक्त छन्द और 'बुद्ध और नाचघर' के मुक्त छन्द में स्पष्ट अंतर है उसी प्रकार 'बगाल का काल' की भाषा और 'बुद्ध और नाचघर' की भाषा में भी अंतर है। दोनों में भाषा का साम्य केवल ऊपरी या शब्दगत है, नहीं तो 'बुद्ध और नाचघर' की भाषा का लहजा 'बंगाल का काल' की भाषा की तुलना में एकदम भिन्न है।

'बंगाल का काल' की भाषा प्रगतिवादियों की सी भाषा है। उसमें आवेश, आक्रोश, गर्जन-तर्जन आदि की प्रधानता है। प्रगतिवादी कविता में ऐसी ही भाषा का प्रयोग हुआ। वह बहुत कुछ ऐजिटेशनल है। लेकिन बुद्ध और नाचघर' की भाषा ऐसी नहीं है। वह आधुनिक हिन्दी कविता की भी भाषा है। उसमें वार्तालाप की सी आत्मीयता और स्वाभाविकता है—

> जिनकी आँखों में हैं आँसू,
> वही समझते हैं फूलों का हास,
> जिनके सीने पर है चट्टान,
> वही समझते हैं तितलियों की उड़ान,
> कलियों की मुस्कान।

यह भाषा नयी कविता की सी भाषा है। भाषा का यह रूप और अन्दाज़ सन् १९४३ में जबकि 'बंगाल का काल' लिखा गया, बहुत अनजाना था।

भाषागत परिवर्तन के बाद शैलीगत परिवर्तन के अन्तर्गत कथन भंगी का परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह परिवर्तन भी बच्चन के काव्य में 'बुद्ध और नाचघर' से ही दृष्टिगत होता है। इस क्रम में सबसे पहली विशेषता, जो 'बुद्ध और नाचघर' की कथन-भंगी को पूर्ववर्ती काव्य की कथन-भंगी से भिन्न

करता है, गद्यात्मकता है। शिल्प-शैली की दृष्टि से आधुनिक कविता का प्रारम्भ वहाँ से माना जा सकता है जहाँ से कविता में गद्य छन्दों की प्रधानता होने लगी अर्थात् छन्दों का प्रयोग होने पर उससे छन्दगत उच्छलता और वेग व्यक्त न होकर गद्यात्मकता निःसृत होने लगी। पर गद्यात्मकता आधुनिक कविता का एक प्रमुख लक्षण है। बच्चन के काव्य में इस गद्यात्मकता का समावेश 'बुद्ध और नाचघर' से होता है। बच्चन ने 'बुद्ध और नाचघर' की भूमिका में जो यह कहा है कि 'बुद्ध और नाचघर' की कविताएँ 'विषम लय की रचनाएँ' कही जायँ उसमें विषम शब्द ध्यान देने योग्य है। लय की विषमता को अनुभव करके ही उन्होंने 'बुद्ध और नाचघर' के मुक्त छन्द को विषम लय कहना चाहा है अर्थात् 'बुद्ध और नाचघर' में कवि अपने मुक्त छन्द की लय को टूटता हुआ अनुभव करता है। लय का यह टूटना ही कविता में आधुनिकता के प्रवेश की कथा कहता है। यद्यपि बच्चन की लयात्मकता अन्य आधुनिक कवियों की लयात्मकता की तुलना में अधिक टूटी-फूटी नहीं है, फिर भी उसमें 'बुद्ध और नाचघर' से मोच पड़ने शुरू हो गये हैं। इसलिए यहाँ जो कथन-भंगी मिलती है वह पहले की कथन-भंगी से भिन्न है।

परिवर्तित कथन-भंगी की दूसरी विशेषता व्यंग्यात्मकता है। 'बुद्ध और नाचघर' में आकर सबसे पहली बार कवि का लहजा व्यंग्यात्मक हो उठा है। कुछ लोगों को बच्चन की कविता में व्यंग्य का आभास 'बंगाल का काल' में भी मिल सकता है। विशेषकर वहाँ जहाँ वह बंगाल के लोगों को कोसता है। लेकिन वह व्यंग्य नहीं व्यंग्य का आभास मात्र है—बहुधा आभास भी नहीं है। व्यंग्य स्थिर चित्त की ऊपर से निस्पृह और तटस्थ दीखने वाले मन की विशेषता है। 'बंगाल का काल' का कवि व्यंग्य कर ही नहीं सकता था। व्यंग्य करने के लिए अपने को अधिक संजीदा करने की ज़रूरत होती है। लेकिन 'बुद्ध और नाचघर' में कवि की कथन-भंगी व्यंग्यात्मक हो जाती है। इस संकलन में ऐसी कई कविताएँ हैं जो सफल व्यंग्य कविताएँ कही जा सकती हैं। और तो और संकलन का नामकरण भी एक व्यंग्यात्मक कविता के आधार पर ही हुआ है। यह कवि की बदली हुई मनःस्थिति और कथन-भंगी के प्रति उसका झुकाव सूचित करते हैं। कवि जब कहता है—

> जहाँ हुए वशिष्ठ और व्यास
> पातंजलि और वाल्मीकि
> जयदेव और कालिदास
> शंकर और बुद्ध भगवान

महावीर और गौरांग
गौतम और कणाद
उसके प्रतिनिधि हैं आज
रंजीट, ड्यूलिप और मनकाड

तो उसका व्यंग्यात्मक लहजा स्पष्ट हो जाता है। इस लहजे के कुछ और भी उदाहरण लिये जा सकते हैं—

इन्हीं से कहते हो करने को सलाह
जिन्होंने घर से निकाले नहीं कदम
जानी नहीं मन की उमंग
झेली नहीं तन की तकलीफ
पाया नहीं थकान का रस

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'बुद्ध और नाचघर' बच्चन के काव्य में एक निश्चित मोड़ का सूचक है। इसलिए यदि उनके परवर्ती काव्य का प्रारम्भ यहाँ से माना जाता है तो यह सर्वथा उचित और स्वाभाविक है। बच्चन के अन्य काव्य-संकलनों में जो प्रवृत्तियाँ अधिक प्रस्फुटित हुई हैं उनके बीज रूप यहाँ देखे जा सकते हैं।

त्रिभंगिमा

बच्चन के परवर्ती काव्य की शुरूआत एक अच्छी और व्यवस्थित शुरूआत है। कम से कम 'बुद्ध और नाचघर' से यही स्पष्ट होता है। 'बुद्ध और नाचघर' की कविताएँ बच्चन की तत्कालीन गीत रचनाओं को देखते हुए संख्या में कम थीं। केम्ब्रिज में रहते हुए वैसी आठ-दस रचनाएँ ही वे लिख सके थे, बाकी गीत थे। अब यदि बच्चन उन्हें किसी गीत संग्रह 'प्रणय पत्रिका' या 'आरती और अंगारे' में ही शामिल कर देते तो उन कविताओं का व्यक्तित्व मारा जाता और वे गीत संग्रहों में एक पैवन्द-सा बनकर रह जातीं। इस प्रकार उनके विकास का वह पहलू, जो आगे चलकर और स्पष्ट होने को था, अनचीन्हा और अनदेखा रह जाता। लेकिन कवि ने इस आशंका का अनुभव किया और उन आठ-दस रचनाओं को छोड़कर गीतों के दो संग्रह प्रकाशित कर दिये। इस प्रकार स्पष्ट है कि बच्चन अपनी उन आठ-दस कविताओं को तब अपनी फुटकल कविताओं में न गिनते थे। इन्हें विश्वास था कि उस रूप में उनके काव्य में जो एक नया उत्स फूटा था वह शीघ्र ही धारा का रूप ग्रहण करेगा और तभी उसे हिन्दी-जगत् के समक्ष लाना उचित होगा। ऐसा ही हुआ भी। शीघ्र ही उन आठ-दस कविताओं की परम्परा में कुछ और कविताएँ लिखी गईं और इस प्रकार की अट्ठाईस कविताओं का संग्रह 'बुद्ध और नाचघर' प्रकाशित हुआ।

'बुद्ध और नाचघर' का प्रकाशन कवि के विवेक और समझदारी का सबूत है। लेकिन आश्चर्य है कि इसके बाद कवि की यह समझदारी गुम हो गई है। 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' क्रमशः १९६१ और १९६२ के प्रकाशन हैं। यदि बच्चन सतर्कता से काम लेते तो अपने दोनों संकलनों को अधिक व्यवस्थित रूप दे सकते थे। अब भी इन दोनों संकलनों का पुनर्गठन और पुनर्प्रकाशन किया जा सकता है। 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' के लोकधुनों पर आधारित गीतों को लेकर एक संग्रह निकाला जा सकता है। ऐसे एक भरे-पूरे संकलन का अपना व्यक्तित्व होगा। अभी लोकधुनों पर

रचित गीत 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' में बिखरे पड़े हैं। इस प्रकार किसी भी संकलन में उनका समन्वित रूप नहीं दिखाई पड़ता। दूसरा संकलन 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' की मुक्त छन्द की कविताओं को लेकर तैयार किया जा सकता है। इस संकलन के उत्तर भाग में 'त्रिभंगिमा' की वे थोड़ी-सी रचनाएँ रखी जा सकती हैं जो गीत-रचना के अवशेष हैं। सम्प्रति 'त्रिभंगिमा' में इन्हें दूसरा स्थान मिला है और मुक्त छन्द की रचनाएँ तीसरे स्थान पर हैं। लगता है 'बुद्ध और नाचघर' में कवि में जो आधुनिक काव्य-दृष्टि सम्यकरूपेण विकसित हो रही थी वह यहाँ आकर धुँधलाने लगी है या उसे पुराने रचना-प्रकारों का मोह आच्छन्न करने लगा है। यदि ऐसा न होता तो 'जीवन मुक्त', 'शब्द मानव काल' 'रात राह प्रीत पीर', 'गत और अनागत' जैसी कविताओं को महत्व देने का कोई कारण नहीं था। वास्तव में 'त्रिभंगिमा' के इस द्वितीय खंड (भंगिमा) की रचनाएँ सबसे अधिक अव्यवस्थित हैं। इसमें से कुछ तो ऐसी हैं जो आसानी से 'धार के इधर-उधर' के नये संस्करण में खपा दी जा सकती हैं विशेषकर 'चित्रलेखा','···के जन्मदिन पर', 'स्वागत गान', 'नौ सैनिकों का प्रयाण गीत', 'थल सेना का प्रयाण गीत', 'राष्ट्रीय बाल दिवस', 'बलि की प्रथा' आदि कविताएँ। वास्तव में किसी कवि में इतना विवेक होना चाहिये कि वह अच्छी से अच्छी और बुरी से बुरी रचनाओं के लिए उपयुक्त स्थान की तलाश कर सके। किसी रचना को कहीं घुसेड़ देना कवि की जल्दबाजी और अविवेक का परिचायक है। 'धार के इधर-उधर' जैसी इन रचनाओं को बन्द कर देने के बाद भी 'त्रिभंगिमा' के इस खंड में जो रचनाएँ बच जाती हैं वे इतनी कम होने पर भी, इतने बेमेल सुरों की हैं कि इनका अन्तर्विरोध स्पष्ट है। एक ओर 'फिर चुनौती', 'कवि और वैज्ञानिक', 'ये काम पर जाने वाले' 'युग के दीप', 'युग की उदासी' जैसी युगबोध की कविताएँ हैं तो दूसरी ओर 'यात्री', 'ढाई अक्षर', 'मिट्टी से हाथ लगाये रह,' 'मैंने ही न देखा', 'मौन यात्री', 'जादूगर का जादू', 'तुम्हारी नाट्यशाला', 'गीतशेष', 'चिड़िया और चुरंगुन' और 'जाल समेटा' जैसी नियति-प्रधान, वैराग्य-मूलक, लोकोत्तर भावों और प्रवृत्तियों की रचनाएँ हैं। इनमें से कौन कवि का सहज और स्वाभाविक स्वर है और कौन उसकी क्षणिक मुद्रा, लगता है कवि इसे पहचान नहीं सका है। इसलिए जहाँ इन रचनाओं में ऐसी पंक्तियाँ हैं—

(१) मैंने अपने पाँवों से पर्वत कुचल दिये
कदमों से रौंदे कुश काँटों के वन बीहड़
दी तोड़ डगों से रेगिस्तानों की पसली

दी छोड़ पगों की छाप धरा की छाती पर

(पृ० ७४)

(२) किन्तु मेरे रास्ते पर अब दूसरे हैं
किन्तु मेरी मंज़िलें अब दूसरी हैं
.................................(पृ० ८०)
आज नभ को नापते विज्ञान को
मेरे निमंत्रण प्रेम की सँकरी गली में

(पृ० ८१)

(३) एक मेला जा रहा है, मैं अकेला
ही न जाऊँ छूट
बस यही कुछ सोच सबके साथ मैं भी हो लिया अज्ञात।

(पृ० ९०)

(४) लेकिन युग जब तमसावृत हो
तब क्यों विकल न कवि का चित हो
विफल जब कि रवि, शशि, तारकदल, दीपक राग रहा हो

(पृ० ११२)

(५) अब अपनी सीमा में बँधकर
देश काल से बचना दुष्कर

(पृ० ११३)

(६) एक राग था ध्वनित धरा पर
न्यौछावर जिस पर था अम्बर
उसे बनाता जाता है कोलाहल अपना ग्रास

(पृ० ११४)

जैसी पंक्तियाँ हैं वहीं दूसरी ओर ऐसी पंक्तियाँ भी हैं—

(१) किन्तु ढाई अक्षरों में मुक्ति का गुरु
मंत्र अभिमत गुनगुनाते तुम पड़े थे
और मैंने ही न देखा

(पृ० ८८)

(२) काम जो तुमने कराया कर गया
जो कुछ कहा था कह गया
.... (पृ० ९३)
क्या इसी के वास्ते तैयार

तुमने था किया मुझको गुणागर ?

(पृ० ९४)

(३) अब तो जीवन की संध्या में
है मेरी आँखों में पानी
झलक रही है जिसमें निशि की
शंका दिन की विषम कहानी
....

(पृ० ९७)

लौट नहीं जो आ सकता है
अब उसकी चर्चा ही क्या है ?

(पृ० ९७)

(४) मैं नीले अज्ञात गगन की
सुनता हूँ अनिवार पुकार ।

(पृ० ९९)

(५) जाल समेटा करने में भी
समय लगा करता है मांझी
मोह मछलियों का अब छोड़

(पृ० १०६)

'त्रिभंगिमा' की कविताओं की हर भंगिमा और उसके महत्त्व को पहचानने में कवि से गलती हुई है, इसमें शक नहीं। लोकधुनों पर रचित गीतों को यदि अलग कर दें (इनका विवेचन अन्यत्र किया गया है) तो 'त्रिभंगिमा' में मुख्यतः एक ही भंगिमा शेष रहती है—वह है युग और यथार्थ-बोध को व्यक्त करने वाली भंगिमा। लोकधुनों पर रचित गीतों के अलावा जो दो भंगिमाएँ निश्चित की गई हैं वे छन्दों के आधार पर हैं। मुक्त छन्द की कविताएँ अलग हैं और छन्दयुक्त कविताएँ अलग। लेकिन यदि कथ्य और विषय-वस्तु को ध्यान में रखें तो छन्द वर्ग की कई कविताएँ, जिनमें युग-बोध और यथार्थ-बोध अधिक प्रत्यक्ष है, मुक्त छन्द वर्ग की कविताओं में सम्मिलित की जा सकेंगी। तब बहुत थोड़ी-सी रचनाएँ बच रहती हैं जो एक विशेष कथ्य और भंगिमा की रचनाएँ कही जा सकती हैं। ऐसी रचनाएँ 'त्रिभंगिमा' के परिशिष्ट भाग में दी जा सकती थीं। यदि संकलन इस प्रकार प्रकाशित होता तो बच्चन के परवर्ती काव्य की वे प्रवृत्तियाँ, जो 'बुद्ध और नाचघर' में लक्षित हुई थीं, और जो आगे चलकर 'दो चट्टानें' में पूर्णरूपेण विकसित होती हैं, इस प्रकार नहीं धुंधलातीं कि साधारण पाठक को उन्हें ढूँढ़ने में कठिनाई होती।

काव्य-व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से कवियों के दो वर्ग किये जा सकते है। प्रथम वर्ग में तो ऐसे कवियों को गिना जा सकता है जिनके काव्य-व्यक्तित्व का विकास अनेक अस्पष्टताओं के बीच होता है। वह एक ऐसे पौधे के रूप में प्रकट होता है जो अन्य अनेक पौधों से घिरा होने के कारण पहले अपना अलग व्यक्तित्व निर्दिष्ट नहीं कर सकता। लेकिन कालान्तर में बढ़ते-बढ़ते उसका अलग व्यक्तित्व निर्दिष्ट हो जाता है। दूसरे वर्ग में उन कवियों को रखा जा सकता है जिनके काव्य-व्यक्तित्व का विकास एकदम स्पष्ट होता है। पर कालान्तर में अस्पष्ट होता हुआ-सा लगता है, जो ध्यान देने पर ही निर्दिष्ट होता है। वह एक ऐसे पौधे के रूप में प्रकट होता है जो साफ-सुथरी ज़मीन पर अकेला ही अंकुरित होने के कारण अलग से साफ-साफ पहचाना जाता है पर समय के साथ-साथ उसके आस-पास बहुत-से पौधे उग आते हैं और इस प्रकार उनकी भीड़ में उसका निर्दिष्ट व्यक्तित्व अनिर्दिष्ट हो जाता है। बच्चन के परवर्ती काव्य के साथ दूसरी बात हुई है। 'बुद्ध और नाचघर' के रूप में उनके परवर्ती काव्य का व्यवस्थित और निर्दिष्ट सूत्रपात्र होता है लेकिन वह आगे चलकर अनिर्दिष्ट हो जाता है। लेकिन यह अनिर्दिष्टता साधारण पाठक के लिए ही रहती है। जो भी ज़रा ध्यान से देखेंगे वे पायेंगे कि बच्चन 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' में भी उसी मार्ग पर आगे बढ़ते रहे हैं जो 'बुद्ध और नाचघर' में प्रशस्त होता है और आगे चलकर 'दो चट्टानें' में तो इतना प्रशस्त होता है कि राजमार्ग ही हो जाता है।

चार खेमे चौंसठ खूँटे

'त्रिभंगिमा' के विवेचन-क्रम में जो बातें 'त्रिभंगिमा' के बारे में कही गई हैं वे ही बहुत कुछ 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' के बारे में भी कही जा सकती हैं अर्थात् 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' भी 'त्रिभंगिमा' की तरह एक ऐसा काव्य-संकलन है जो चयन और सम्पादन-कौशल की दृष्टि से बड़ा अव्यवस्थित है। 'खैयाम की मधुशाला' की भूमिका में बच्चन ने फिट्जजरेल्ड के बारे में लिखा है—"फिट्जजरेल्ड एक सचेत, सुरुचिपूर्ण और श्रेष्ठ कलाकार थे। उनकी कला उमर खैयाम के विचारों को अंग्रेज़ी की कोमल, कांत, सम्भ्रान्त और सर्वप्रिय शब्दावली में भाषांतरित करके ही निश्चित नहीं हुई। इतना उनके काव्य का सबसे सरल भाग था। उन्होंने दो बातें और कीं जो इससे अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। इसमें पहला कार्य था रुबाइयों का चुनाव और दूसरा था उनका सजाव अर्थात् उनका क्रम स्थापित करना। फिट्जजरेल्ड अच्छे अनुवादक तो थे ही पर सम्पादक उससे बढ़कर थे।···फिट्जजरेल्ड ने जितनी रुबाइयों का अनुवाद किया उससे कहीं अधिक रुबाइयाँ (उमर खैयाम की) पांडुलिपि में थीं। फिट्ज-जरेल्ड के चयन ने उनमें विचारों का मेल दिखाया, भावों की समानता जताई और मनःस्थिति का ऐक्य स्थापित किया।" यहाँ जो बातें फिट्जजरेल्ड के बारे में कही गई हैं उसकी अपेक्षा किसी भी कवि से हो सकती है। केवल अनुवाद में ही नहीं, मौलिक सृजन को व्यवस्थित करने में भी चयन और सम्पादन-कौशल का सहारा लेना पड़ता है। जो कुछ लिखा उसे ज्यों का त्यों किसी काव्य-संकलन में इकट्ठा कर देना तो ऐसा ही है जैसे कोई पाचक अपने बनाये हुए सभी सुस्वादु व्यंजनों को एक थाल में इकट्ठा कर दे। किसी सभ्य, सुरुचि-पूर्ण और सुसंस्कृत व्यक्ति को ऐसे थाल को देखकर कितनी झुँझलाहट हो सकती है, यह स्पष्ट है।

इस क्रम में यह कहा जा सकता है कि 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' में क्रम-स्थापना का प्रयास कवि ने किया है क्योंकि क्रम-सूची के अन्त में लिखा है—"कविताओं का क्रम स्थापित करने में सहायता देने के लिए कविवर अजितकुमार

श्रौर कहानीकार सत्येन्द्र शरत् के प्रति श्राभार प्रकट करना चाहता हूँ ।" यही इस बात का प्रमाण है कि कवि में चयन श्रौर सम्पादन-दृष्टि का श्रभाव है। केवल 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' या 'त्रिभंगिमा' में ही नहीं, उनके दूसरे कई काव्य-संकलनों की श्रव्यवस्थित रूप-योजना से भी कवि का यह श्रसामर्थ्य सूचित होता है। वास्तव में बच्चन की यह बहुत बड़ी दुर्बलता रही है कि उसने जो कुछ लिखा है सबको ज्यों का त्यों किसी न किसी काव्य-संकलन में रख देना चाहा है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ कवि का लिखा हुश्रा भी सर्वश्रेष्ठ श्रौर छपने के योग्य नहीं होता। वास्तव में श्रपने कृतित्व को काटने-छाँटने की निस्पृह निर्ममता कवि या कलाकार की बहुत बड़ी शक्ति है। ऐसा करके वह श्रपने कृतित्व पर पाठक श्रौर काल को श्रपनी निर्मम कैंची चलाने का बहुत कम श्रवसर देता है। इससे दोनों ही पक्षों का उपकार होता है।

श्राधुनिक पाठक श्रौर पूर्वकालीन पाठकों में, जिन कई बातों को लेकर बहुत श्रन्तर है, उनमें एक यह है कि श्राज का पाठक श्रधिक व्यवस्थाप्रिय, लाघवप्रेमी, श्रौर संश्लिष्ट दृष्टि वाला है। श्रब वह समय गया जब कि साहित्य के इतिहास ग्रंथों तक में कवियों श्रौर उनकी रचनाश्रों की श्रव्यवस्थित सूची हुश्रा करती थी। श्राज का मनुष्य तार्किक है, इसलिए हर वस्तु में तारतम्य खोजता है। इसलिए श्रब के कवियों के काव्य-संकलन से यह श्रपेक्षा की जाती है कि वह सुन्दर सुगठित श्रौर सुसम्पादित हो। इस दृष्टिकोण से 'त्रिभंगिमा' श्रौर 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' श्रव्यवस्थित श्रौर श्रसंतुलित है—विशेषकर इस बात को ध्यान में रखने के कारण कि बच्चन यदि चाहते तो इन्हें श्रधिक सुन्दर श्रौर सुगठित रूप दे सकते थे जैसा कि उन्होंने 'बुद्ध श्रौर नाचघर' में किया है।

श्राजकल रचनाश्रों के कालक्रमानुसार उपस्थापन पर बहुत ज़ोर दिया जाने लगा है। रचनाश्रों को इस प्रकार उपस्थित करना निस्सन्देह उपयोगी है पर रचनाश्रों को प्रस्तुत करने में एक श्रन्य दृष्टिकोण का श्रपनाया जाना भी जरूरी श्रौर उचित है। मेरे जानते इसका कालक्रमानुसार की श्रपेक्षा कम महत्त्व नहीं । इसमें कालक्रम पर उतना ध्यान न देकर प्रवृत्तियों श्रौर उनके तारतम्य पर ध्यान देना श्रधिक श्रावश्यक है। ऐसा हो सकता है कि कोई कवि एक ही कालावधि में श्रपनी विविध प्रवृत्तियों का प्रदर्शन करे। इन प्रवृत्तियों में पारस्परिक संगति नहीं भी दीख सकती है—विशेषकर तब जब कि हम एक के बाद दूसरी को देखें। इस प्रकार कालक्रमानुसार विचार करने पर प्रवृत्तियों की श्रसम्बद्धता ही नज़र श्रायेगी। लेकिन यदि कालक्रमानुसार विचार न कर प्रवृत्तियों के तारतम्य को ध्यान में रखकर विचार करें तो उनमें पारस्परिक

संबंध नज़र आयेगा। इसलिए कालक्रमानुसार अध्ययन की उपयोगिता उतनी नहीं है जितनी साधारणत: समझी जाती है। इस पद्धति की उपयोगिता अधिकतर ऐसे कवियों के अध्ययन में समझी जा सकती है जो अपेक्षाकृत सम-भाव से विकसित होते हैं। तब कालक्रमानुसार विचार करने पर एक निश्चित और सीमित क्षेत्र में उनका क्रमिक विकास स्पष्ट होता है। लेकिन यदि ऐसा है कि कवि का विकास अत्यन्त विषम ढंग से हो रहा है अर्थात् कथ्य और शैली की दृष्टि से वह एक ही काल में अनेकानेक प्रयोग कर रहा है तो कालक्रमा-नुसार अध्ययन की पद्धति उसके लिए उपयोगी नहीं हो सकती। तब उसका अध्ययन काव्य-प्रकार और प्रवृत्तियों के पारस्परिक तारतम्य के आधार पर ही हो सकता है। बच्चन के प्रारम्भिक या पूर्ववर्ती काव्य का अध्ययन कालक्रमानुसार ही हो सकता है। इस काल में ये उनके निश्चित विकास-पथ हैं जैसे 'मधुशाला', 'मधुबाला' और 'मधुकलश', 'निशा निमंत्रण', 'एकांत संगीत' और 'आकुल अन्तर' आदि। सतरंगिनी के बाद यह समगति का विकास अव्यवस्थित होने लगता है। सन् १९४५ में 'सतरंगिनी' के प्रकाशन के बाद सन् १९४६ में 'बंगाल का काल' का प्रकाशन होता है, सन् १९४८ में 'सूत की माला' और 'खादी के फूल' छपते हैं और सन् १९५० में 'मिलन यामिनी' प्रकाशित होती है। अर्थात् यहाँ कालक्रमानुसार अध्ययन की पद्धति उतनी उपयोगी नहीं रह जाती है जितनी कि 'मधुशाला', 'मधुबाला' काल में या 'निशा निमंत्रण' या 'एकांत संगीत' काल में। 'सतरंगिनी' से कवि की विकास-यात्रा कुछ-कुछ विषम हो उठती है। लेकिन यह विषमता अलग-अलग संकलनों को क्रमानुसार देखने से स्पष्ट होती है।

बच्चन के परवर्ती काव्य में एक और जटिलता लक्षित होती है अर्थात् वहाँ किसी एक संकलन में ही प्रवृत्तिगत वैविध्य लक्षित होने लगता है। यह प्रवृत्ति 'आरती और अंगारे' से शुरू हो जाती है। 'प्रणय पत्रिका' तक कवि के सभी संकलन संवादी सुरों के हैं अर्थात् उनमें एक ही स्वर की प्रधानता है। लेकिन 'प्रणय पत्रिका' के बाद ही बच्चन के काव्य-संकलनों में विसंवादी सुरों का प्रवेश होने लगता है अर्थात् एक ही संकलन में कई स्वर एक-दूसरे से टकराने, या उनपर छाने की कोशिश करने लगते हैं। 'आरती और अंगारे' में यह बात पहली बार प्रत्यक्ष होती है अर्थात् उसमें कुछ गीत ऐसे हैं जो कवि के 'स्व' की अभिव्यक्ति करते हैं और कुछ ऐसे हैं जो अपेक्षाकृत वस्तुगत हैं। वास्तव में बच्चन के काव्य में एक से अधिक भंगिमा का प्रवेश यहीं से होता है। 'बुद्ध और नाचघर' में कवि प्रकार की दृष्टि से ही व्यवस्थित होता है।

वहाँ कथ्य की विविधता तो है ही। लेकिन उसके बाद 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' में भंगिमाएँ अधिकाधिक होती जाती हैं। इसलिए यहाँ से काल-क्रमानुसार अध्ययन पद्धति की उपयोगिता घटने लगती है। इसलिए यहाँ से कवि से यह अपेक्षा होने लगती है कि वह चयन और सम्पादन-दृष्टि का परिचय दे अर्थात् रचनाओं को कालक्रमानुसार न सजाकर प्रमुख और सम्भाव्य प्रवृत्तियों के आधार पर सजाये। लेकिन बच्चन यही नहीं कर सके हैं।

'चार खेमे चौंसठ खूँटे' में मुख्यतः तीन प्रकार की रचनाएं हैं—मुक्त छन्द की कविताएँ, छन्दयुक्त कविताएँ और लोकधुनों पर आधारित गीत। 'त्रिभंगिमा' में भी रचनाओं के ये ही तीन वर्ग हैं। लेकिन 'त्रिभंगिमा' में ये अधिक व्यवस्थित हैं जबकि 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' में अधिक अव्यवस्था और बिखराव है। प्रारम्भ में दो मुक्त छन्द की कविताएँ हैं—'खेमे राम' और 'खूँटे चन्द'। कथ्य की दृष्टि से इन दो कविताओं की संगति पुस्तक के अन्त भाग में स्थित मुक्त छन्द की रचनाओं से बैठती है लेकिन पुस्तक का नामकरण इन दो कविताओं के आधार पर हुआ है शायद इसीलिए इन्हें शुरू में संकलित किया गया है। वैसे जिस कविता के आधार पर पुस्तक का नामकरण हो उसका शुरू में संकलित किया जाना ज़रूरी नहीं है। 'बुद्ध और नाचघर' में तो इस शीर्षक की कविता अन्त में ही संकलित है।

इन दो कविताओं के बाद ही कुछ मुक्त छन्द की कविताएँ हैं जैसे 'चल बंजारे', 'चलते रहने के कुछ माने', 'चलने की मजबूरी है', 'कैसा मोह जगह का', 'मानुपावतार', 'धरती कभी न धोखा देगी', 'नभ मंडल भयत्राता है' और 'नभ का निमंत्रण', 'मैं कैसे हट जाऊँ', 'यह देह', 'बहुत दिनों पर' आदि। इनमें से एक दो कविताओं को यदि छोड़ दें तो बाकी में बच्चन के किसी विशिष्ट रूप के दर्शन नहीं होते। इसलिए ये बहुत पीछे ठेल दी जाने वाली कविताएँ हैं। ये रचनाएँ आसानी से बच्चन के काव्य-संकलन 'धार के इधर-उधर' के नये संकलन में खपा दी जा सकती हैं। इन रचनाओं के बाद लोकधुनों पर आधारित रचनाएँ हैं जिनके बारे में अन्यत्र हम लिखेंगे। लेकिन इनके बीच भी एकाध गीत इस प्रकार घुसेड़ दिए गए हैं कि कोफ्त होता है। उदाहरण के लिए इन गीतों में एक गीत 'बरस तरस' क्यों घुसेड़ दिया गया है कुछ समझ में नहीं आता।

बच्चन के परवर्ती काल के अन्य काव्य-संकलनों की तुलना में 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' में एक नई विशेषता मिलती है और वह है कवि का अध्यात्म के प्रति झुकाव। इस बात को न केवल संकलन की कुछ कविताएँ स्पष्ट करती हैं

वरन् पुस्तक का नामकरण और कविताओं का चयन भी कवि ने इसी दृष्टिकोण से किया है। भूमिका में कवि ने कहा है—"कविताएँ चौंसठ ही क्यों रखीं यह आप पूछ सकते हैं। कुछ तो चार के तुक-बंधुत्व के कारण। तुकों का रिश्ता मैं मानता हूं। फिर चौंसठ की संख्या भी अपनी संस्कृति में सन्दर्भ-विहीन नहीं है। एक ओर तो काम की चौंसठ कलाओं और दूसरी ओर तन्त्र की चौंसठ योगिनियों से आप अपरिचित नहीं होंगे। काम और अध्यात्म के बीच में दुनिया है, कम से कम कवि की। काम की व्यापकता निष्काम को भी नहीं छोड़ती और मेरी उम्र में पहुँचकर अध्यात्म की कुछ सुगबुग होना भी स्वाभाविक है। अपने पूर्वज पचास वर्ष की अवस्था में वानप्रस्थ ले लिया करते थे। मैं पाँच ऊपर फाँद गया हूँ। चौंसठ खूँटों में से कुछ आसमान में गड़े नज़र आयें तो मुझे ऐन्द्रजालिक समझने की भूल न करें। इस भौतिकता के युग में अध्यात्म को अपनी सफाई देनी और क्षमा-याचना करनी पड़ती है। वैसे आध्यात्मिकता के संस्कार इस देश में इतने पैवस्त किए गए हैं कि यहाँ जवानी भी गेरुआ रूमाल रखती है और नास्तिक भी ब्रह्मवादी होता है। फिर भी अगर आपकी उमर पकी नहीं तो सम्भव है जीवन की अनिवार्य आध्यात्मिकता की ओर झुकी हुई कविताओं से आपकी सहानुभूति न हो सके।" इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि इस सकलन में अपना एक नया रूप लेकर सामने आता है और चाहता है कि उसे सहज स्वाभाविक मानकर उसपर ध्यान दिया जाय। अब विचारणीय यह है कि आधुनिक कवियों का अध्यात्म की ओर इस प्रकार झुकना साहित्यिक दृष्टिकोण से कहाँ तक उचित है ? ऐसा करने से कविता का कल्याण होता है क्या ?

अध्यात्म पचास के बाद जीवन की आवश्यकता हो सकती है लेकिन वह साहित्य की आवश्यकता भी है आज यह कहना बहुत मुश्किल है। जब अध्यात्म साहित्य के लिए आवश्यक था तब का साहित्य उससे भरा है। लेकिन आधुनिक युग तक आते-आते कविता अध्यात्म के प्रभावों से मुक्त हो गई। वास्तव में अब अध्यात्म केवल कहने-भर को ही रह गया है। आज वह बहुत कुछ 'मिथ' के रूप में ही शेष है। पचास के बाद अध्यात्म का होना कोई अनिवार्यता और अपरिहार्यता नहीं है। उसके प्रति अब भी अपना झुकाव प्रकट करना प्राचीनता से चिपके रहना है। अध्यात्म एक मूल्य था, जिसकी प्राचीन काल में निश्चित उपयोगिता थी। तब उसीके सहारे मनुष्य को आश्वासन मिल सकता था। आज उस मूल्य की तद्वत् उपयोगिता नहीं रह गई है। लेकिन यदि आज भी हमारे देश में कुछ लोग उससे रिश्ता जोड़ते नजर आते हैं तो इसका कारण

यह है कि उसका स्थानापन्न कोई नया मूल्य हमारे समाज में प्रतिष्ठित नहीं हुआ है। इस प्रसंग में निराला के सुप्रसिद्ध काव्य ग्रंथ अर्चना की समीक्षा करते हुए कवि नरेश मेहता की एक बात ध्यान देने योग्य है। उन्होंने लिखा है—"जिस समाज के पास मार्क्सवादी सामाजिक एवं वैज्ञानिक दर्शन नहीं हुआ करता उस जाति या व्यक्ति का विद्रोह या रूप प्रतिक्रियात्मक होने लगता है और तब धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न होती है। 'एक संज्ञा शरीरी या अशरीरी ही निभाता है' का बोध करवाया जाता है।"[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि अध्यात्म आज हमारे जीवन की स्वाभाविकता नहीं, अस्वाभाविकता है। जो कवि अपने यौवन के दिनों में धर्म और अध्यात्म को खुलकर धता बताये, उसकी कुछ भी परवाह न करे, वह जीवन के अन्तिम काल में धर्म और अध्यात्म की ओर झुक जाये यह और कुछ नहीं उसके विद्रोह की विफलता और हार है। इस कवि ने पहले लिखा था—

प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर
युद्ध क्षेत्र में दिखला भुजबल
रहकर अविजित, अविचल प्रतिपल
मनुज पराजय के स्मारक हैं, मठ, मस्जिद, गिरिजाघर
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर
झुकी हुई अभिमानी गर्दन
बँधे हाथ नत निष्प्रभ लोचन
यह मनुष्य का चित्र नहीं है पशु का है रे कायर
प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर

(एकांत संगीत, पृ० ११८)

धर्म-कर्म में
भाग्य मर्म में
इस जीवन का अर्थ न खोजो।
यही कायरों के शरणस्थल
यहीं छिपा करते हैं निर्बल
यहीं आड़ लेते हैं असफल

(बंगाल का काल, पृ० ४२)

वह बाद में चलकर ऐसी पंक्तियाँ लिखे—

१. 'विवेक के रंग', पृ० १४

नीचे धरती लम्बी चौड़ी
ऊपर गगन रहस्य भरा
नन्हा-सा इंसान यहाँ क्या
दो पाटों के बीच पड़ा
अचरज क्या, घबराया है।

(चार खेमे चौंसठ खूँटे, पृ० ४२)

तो क्या यह उसकी पराजय नहीं है। वास्तव में किसी कवि को कुछ लिखने के पहले यह सोचना होगा कि क्या वह जो कुछ लिख रहा है वह उसके पहले के विचारों और कथनों के मेल में है? यदि वह उसके पहले के विचारों और कथनों के मेल में नहीं है तो क्या उसका नया दृष्टिकोण है और वह समयोचित और विवेक-सम्मत है? मन में जो आये लिख देना और उसे उम्र और परंपरा का प्रभाव बताना उचित दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता। जिस समाज में विद्रोह का कोई विधेयात्मक रूप नहीं होता वहाँ विद्रोह-भाव अधिक दिनों तक टिका नहीं रह सकता। जवानी के शुरू के दिनों में तो वह ज्यों-त्यों कर कायम रहता है लेकिन बाद में प्रतिक्रियावाद के आगे घुटने टेक देता है। और मज़ा यह कि घुटने टेकने के बाद उसे पता भी नहीं चलता कि उसने घुटने टेके हैं क्योंकि इस प्रकार हुई हार को छिपाने के लिए हमारे यहाँ अनेक शब्द हैं। अध्यात्म, वानप्रस्थ ये सारे शब्द ऐसे ही हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर भारतीय समाज-रचना सचमुच हमारे लिए एक समस्या है। हमारी सामाजिक संचरना में प्रतिक्रियावादी तत्त्व इस प्रकार पैवस्त किये गये हैं कि वे हमारे विद्रोह को आसानी से सोख लेते हैं।

धर्म और अध्यात्म की ऐसी निरर्थकता और अनुपयोगिता से, जिसका यहाँ प्रतिपादन किया गया है सभी सहमत नहीं होंगे, यह तय है। हमारे देश में आज भी तथाकथित धर्म-प्राण लोगों की कमी नहीं है। इसलिए इसपर अधिक ज़ोर न देते हुए मैं एक दूसरी ही बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा। यदि जीवन के शेषांश में धर्म और अध्यात्म ज़रूरी ही हो तो उसे व्यावहारिक जीवन तक ही सीमित रखा जा सकता है। बच्चन ने गीता का अवधी में अनुवाद किया है, फिर खड़ी बोली में भी वे इसे ले आये हैं। जन गीता के समर्पण से स्पष्ट है कि उनका साधुओं, संन्यासियों से भी सम्पर्क है और उनमें विश्वास है। वे यह सब कर सकते हैं, इसके लिए स्वतन्त्र हैं। क्या अध्यात्म की उनकी प्यास इस प्रकार नहीं बुझ सकती? क्या यह ज़रूरी है कि अपने कलाकार और सृजनात्मक कृतित्व को भी अध्यात्म के क्षेत्र में घसीटा ही जाये? विशेषकर तब जब कि

हर कवि और पाठक यह जानता है कि हिन्दी कविता में धर्म और अध्यात्म जिस सीमा तक और जिस सफलता से व्यक्त और प्रतिष्ठित हो चुका है उससे वे आगे नहीं जा सकते। इस हालत में अपने सृजनात्मक रूप को कलंकित करने की आवश्यकता ? बच्चन के 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' के प्रसंग में ये बातें और भी ज़ोर देकर कहीं जा सकती हैं। इस संकलन में ऐसी जो भी कविताएँ हैं उनमें अध्यात्म इतना छिछला है कि उसे अध्यात्म कहने को ही जी नहीं करता। यह तो वही हुआ कि न खुदा ही मिला न विशाले सनम। 'चलने की मजबूरी', 'कैसा मोह जगह का', 'मानुषावतार', 'नभ मंडल भयत्राता है' जैसी कविताओं में अध्यात्म कहाँ है यह कुछ पता नहीं चलता। अधिक से अधिक ये अध्यात्माभास कही जा सकती हैं लेकिन आलोचक हैं कि बच्चन के इस नये अध्यात्म को हिन्दी कविता के लिए क्रांतिकारी चीज समझते हैं।[1] क्यों न हो आखिर भारत का आलोचक भी तो आध्यात्मिकता में डूबा हुआ होता है। प्राचीन परम्पराओं और संस्कारों के कारण उसे अध्यात्म को ढूंढ़ने-खोजने और निरखने-परखने का जो चस्का लग जाता है वह उसका पिंड नहीं छोड़ता। इसलिए आधुनिक साहित्य में उसे जहाँ भी थोड़ी आध्यात्मिकता मिल जाती है वह भाव-विह्वल और गद्गद हो उठता है, उसकी प्रशंसा करते और कवि को मूलतः उसीका प्रवक्ता सिद्ध करते थकता नहीं।

१. इस प्रसंग में 'नयी कविता, नयी आलोचना और कला' पुस्तक में व्यक्त 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' संबंधी निम्नलिखित मत ध्यान देने योग्य है—इन कविताओं के द्वारा बच्चन ने हिन्दी कविता में एक नया कमाल दिखलाया है क्योंकि अध्यात्म के गहन तत्त्वों तथा रहस्यानुभूति की रंजनाओं को इतनी सरल और अकृत्रिम भाषा में व्यक्त कर देना आधुनिक हिन्दी कविता के लिए एक चकितकर उपलब्धि है जिसे भविष्य के कवि भी प्रलुब्ध भाव से देखते रहेंगे।...यह कविता पुस्तक आध्यात्मिक भावभूमि पर अधिष्ठित होने के बाद भी 'आर्किटेक्टोनिक' और सावयव कल्पना की दृष्टि से उत्कृष्ट बन पड़ी है। तदनन्तर आध्यात्मिक लोक के मानसिक संरचन के कारण इन कविताओं में एक दिन अण्डरहिल द्वारा निर्दिष्ट यात्रा-द्योतक प्रतीक अधिक मिलते हैं। सचमुच खेमे खूँटे या बंजारे जैसे यात्रा-द्योतक प्रतीक कवि को एक आध्यात्मिक यायावर सिद्ध करते हैं।...इस प्रकार यह पुस्तक हिन्दी साहित्य की भविष्यत् रहस्यप्रिय और आध्यात्मिक कविताओं के लिए एक दिशा निर्देशक रचना सिद्ध होती है क्योंकि उपमानों की नवीनता और अभिव्यक्ति की टटकी प्रत्यग्रता के लिए आध्यात्मिक कवि को भी ऐसी ही भाषा-शैली और प्रतीक-विधान का आश्रय ग्रहण करना होगा। (पृ० ३८-३९)

त्रिभंगिमा और चार खेमे चौंसठ खूटे

आधुनिक युगीन विकासशील कवि के नवीन कृतित्व का अध्ययन किस दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये ? क्या यह देखना चाहिये कि उसने अपनी पुरानी भावधारा या विचारधारा को कहाँ तक प्रौढ़ता, गरिमा और ऊँचाई दी है ? या यह देखना उचित है कि वह अपनी पुरानी भावधारा और विचारधारा से कहाँ, किस सीमा तक, और क्यों भिन्न और अलग हुआ है और यह भिन्नता सामयिक प्रसंगों को देखते हुए कहाँ तक उचित है और उसकी सम्भावनाएँ क्या हैं ? मेरे जानते इस दूसरे दृष्टिकोण का आलोचना की दृष्टि से अधिक महत्त्व है। आज का साहित्य समसामयिकता के प्रति प्रतिश्रुत है। अब साहित्य-संबंधी हमारी धारणा वह नहीं है जो कुछ दशक पूर्व थी। अब साहित्य का कोई शाश्वत रूप नहीं माना जाता। अब यह मान लिया गया है कि साहित्य गतिशील यथार्थ की प्रतिच्छाया या उसका साहित्यिक रूपान्तरण है। सामयिक प्रसंगों से कटा हुआ साहित्य आज हमारी कल्पना में नहीं आता। इस दृष्टि से रचित आज का हर साहित्य और साहित्यकार जीवंत और गतिशील है। आज के वैज्ञानिक युग में दुनिया तेज़ी से बदल रही है, इसलिए हर साहित्यकार में एक बदलाव ढूंढ़ना उचित ही है। जिसमें यह बदलाव नहीं वह रूढ़ और मृत मान लिया जाता है। जहाँ तक एक ही विषय को लेकर चलते हुए शैली को सजाने-सँवारने और निखारने का प्रश्न है, इसको आज बहुत महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता। जब कविता के विषय कुछ गिने-चुने होते थे और कविता में शिल्प-शैली के चमत्कार को महत्त्व दिया जाता था, तब आलोचक यह देखते थे कि कवि एक ही ज़मीन पर रहते हुए कहाँ किस ऊँचाई तक पहुँचा है। लेकिन आधुनिक समालोचना इन बातों में बहुत रुचि नहीं लेती। अब साहित्य में भी विकासशील जीवन और उसके परिवेश की छाया ढूंढ़ना उचित और प्रासंगिक है।

इस दृष्टि से यदि हम बच्चन के 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' संकलनों का अध्ययन करना चाहें तो पहले उन अंशों को अलग कर लेना होगा जो बच्चन के कृतित्व के जीवन्त और गतिशील अंग हैं। हर विकासशील रचना-

कार पुरानेपन का केंचुल छोड़कर नव्यता और जीवंतता ग्रहण करता है। इसलिए उसके विवेचन-क्रम में उसके पुरानेपन को उसके नयेपन से अलग करके देखना उचित है। आलोचक बहुधा इस बात को लेकर गलती कर जाते हैं। वे कवि के नवीन कृतित्व में पुराने जीवन-मानों से प्रभावित और मिलती-जुलती बातों को ही जल्दी पहचानते हैं और उसके पिछले कृतित्व से उसका लगाव स्थापित कर उसका मूल्यांकन सरल और सुकर समझते हैं। इसके विपरीत उसके नवीन कृतित्व में जो नवीनता या नवीनता के इंगित होते हैं वे उनकी पकड़ में ठीक ठीक नहीं आते और यदि आते भी हैं तो कवि के पिछले कृतित्व के कारण उनका मन इतना पूर्वाग्रहयुक्त होता है कि वे उसका महत्त्व नहीं समझ पाते।

जिस प्रकार समाज में कुछ ऐसे लोग सदा से रहे हैं जो 'जो कुछ है' का 'जो कुछ होगा' या 'हो सकता है' का अधिक महत्त्व मानते हैं उसी प्रकार साहित्य में भी ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो कृतित्व में 'प्रस्तुत' का 'अप्रस्तुत' से या 'प्राप्त' का 'सम्भावना' से अधिक महत्त्व मानते हैं। ऐसे आलोचक स्वभावतः कवि के ख्यात रूप की चर्चा उसके सम्भावित रूप की अपेक्षा अधिक ज़रूरी समझते हैं। ऐसे लोग यदि कवि के नवीन कृतित्व में निहित नवीनता के इंगितों को अनदेखा कर जायें, तो यह सहज स्वाभाविक है। लेकिन आज का विकासशील मनुष्य इस बात पर गौर करना अधिक आवश्यक समझता है कि किसी वस्तु, घटना या प्रसंग की सम्भावनाएँ क्या हैं। वह जिस रूप में है वह तो है ही, वह तो सबकी आँखों के सामने है, लेकिन वह जिस दिशा की ओर अग्रसर हो रहा है वह कौनसी दिशा है, उस दिशा में आगे बढ़ने की सम्भावनाएँ क्या हैं, उनका औचित्य क्या है। इन बातों पर विचार करने से ही विचारों की सार्थकता सिद्ध हो सकती है।

'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' के उन अंशों की ओर, जो कवि के विकासशील कृतित्व के अपेक्षाकृत ह्रासोन्मुखी अंग हैं, हम अलग संकेत कर चुके हैं। यहाँ उनकी चर्चा न करते हुए हम दोनों काव्य-संकलनों के उन गुणों और विशेषताओं की चर्चा करना चाहेंगे जो आज की कविता के जीवंत तत्त्व हैं।

आज की कविता की सबसे प्रमुख विशेषता समसामयिकता के प्रति उसकी गहरी और एकान्त निष्ठा है। इसलिए आज की कविता में समसामयिक जीवन के जैसे विश्वस्त चित्र मिलते हैं वैसे पूर्व की कविताओं में मुश्किल से मिलते हैं। समसामयिक जीवन के ऐसे विश्वस्त चित्र बच्चन के दोनों काव्य-संग्रहों 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' में विस्तार से लक्षित होते हैं। इसे कवि की जीवंतता

का प्रमाण ही मानना चाहिये कि कई दशक पूर्व का रचनाकार होकर भी वह समसामयिक साहित्य-सिद्धान्तों की उपयोगिता से अवगत है। साहित्य की नित नवीन प्रवृत्तियाँ फैशन न होकर, युग की आवश्यकताएँ होती हैं। इसलिए पुराने जीवंत रचनाकारों को भी साहित्य की नव्यतम प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते देखा जाता है। यह बात बच्चन के काव्य में प्रमुखता से लक्षित होती है। एक गीतकार होने पर भी बच्चन की समसामयिक जीवन को चित्रित करने की अभिरुचि प्रशंसनीय है। युग की विकृतियों का चित्रण करते हुए उन्होंने लिखा है—

कौन अब होता समर्पित
और हो भी किसलिए जब
आप अपने को समर्पित हो गये सब

(त्रिभंगिमा, पृ० १५७)

इन पंक्तियों में कवि ने युगीन स्वार्थपरता का अच्छा चित्रण किया है। वैसे स्वार्थ का बोलबाला तो प्रत्येक युग में रहा है। लेकिन इधर के भारतीय समाज की गतिविधियों का जिन्हें सम्यक् ज्ञान है, वे जानते हैं कि स्वतन्त्रता के बाद हमारा स्वार्थी रूप अधिक स्पष्ट हुआ है। इस बात को बच्चन 'त्रिभंगिमा' की एक दूसरी कविता 'खजूर' में बहुत प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करते हैं—

भूमि आज खजूरधर्मी हो गई है
कहीं कुछ बीजो लगाओ
समय पाकर वह
प्रलम्ब खजूर में ही बदल जाता
भूमि भूला गगन से नाता बनाता।

(पृ० ११९)

इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ, स्वार्थ, अलगाव और अहंमन्यता आदि के भाव, आज़ादी के बाद अधिक फूले-फले हैं। कवि क्षुब्ध होकर लिखता है—

शहनशाही दिल तबीयत ठाठ के पश्चात्
अब युग भुक्खड़ों, बौनों, नकलची बानरों का
आ गया है।

(चार खेमे चौंसठ खूँटे, पृ० १२२)

इस प्रकार स्पष्ट है कि नवीन रचनाकारों की भाँति बच्चन ने समसामयिक जीवन को अपने अनुभव की आँखों से देखा और भोगा है। इसलिए उनकी कविता में उनका ऊपरी और दिखावटी चित्रण नहीं है। लगता है समसामयिकता

के ऐसे बोध ने उनके कवि के रग-रेशे को बहुत गहरे जाकर छुआ है और वे तिलमिलाहट से भर गये हैं। तिलमिलाहट और आक्रोश का यह भाव बच्चन में इसलिए है कि केवल आज का युग ही उनका जाना-पहचाना नहीं है, उन्हें एक और युग का अनुभव भी है। समसामयिक जीवन की विकृतियाँ यद्यपि नये रचनाकारों की रचनाओं के विषय भी हैं पर उन्हें वे आज की स्वाभाविक नियति मानकर स्वीकार कर लेते हैं। पर बच्चन उन्हें इस रूप में स्वीकार नहीं कर सकते थे। इसलिए विषय एक होने पर भी आज के नये रचनाकारों से बच्चन का रुख भिन्न है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बच्चन नयों के रंग में एकदम रंग नहीं गये हैं वरन् नवीनता से परिचित होकर भी अपनी मौलिकता बनाये रख सके हैं।

बच्चन की पूर्ववर्ती गीत रचनाओं में भी उनका यथार्थबोध अच्छी तरह व्यक्त हुआ है। इसी बात को ध्यान में रखकर भारतभूषण अग्रवाल ने 'हलाहल' के संबंध में लिखते हुए कहा है—"बच्चन ने कल्पना को रंग-बिरंगी हाला का हमें पान अवश्य कराया था, पर यथार्थ जीवन से उन्होंने अपना मुँह कभी नहीं मोड़ा। ऐसा वे कर भी नहीं सकते थे क्योंकि वे समग्र जीवन के कवि हैं और यौवन से उल्लास और मद का गीत गाते समय भी यह नहीं भूलते कि वास्तविक जीवन बड़ा कठोर होता है और उसमें पग-पग पर संघर्ष करना पड़ता है।" (हलाहल, पृ० ११२) उनका यह यथार्थबोध उनके परवर्ती काव्य में और अधिक पुष्ट और प्रखर हुआ है। इस दृष्टि से बच्चन का परवर्ती काव्य हिन्दी के आधुनिक काव्य की तुलना में कम समर्थ नहीं है। जब कवि कहता है—

> और छाती वज्र करके
> सत्य तीखा
> आज यह
> स्वीकार मैंने कर लिया है
> स्वप्न मेरे ध्वस्त सारे हो गये हैं

(त्रिभंगिमा, पृ० १५३)

या

> निगलना ही पड़ेगा
> आँख को यह
> सुर सुतीक्ष्ण यथार्थ दारुण

(वही, पृ० १५५)

तो स्पष्ट हो जाता है कि कवि यथार्थवाद की ज़मीन पर मजबूती से खड़ा है। बच्चन की कविता में यह यथार्थबोध दिन-दिन बढ़ता ही गया है। 'बुद्ध और नाचघर' से शुरू होकर वह निरन्तर विकास करता गया है।

यथार्थबोध पर विचार करते हुए उसके विभिन्न प्रभावों का उल्लेख करना भी समीचीन है। सुर सुतीक्ष्ण और दारुण यथार्थ का पहला प्रभाव तो यह पड़ता है कि उसके आसंगों में जीनेवाला मनुष्य उद्विग्न होता है। यथार्थ की भीषणता उसे क्षुब्ध, कातर और उद्वेलित करती है। इस भाव को बच्चन ने 'सत्य की हत्या' नामक कविता में इस प्रकार स्पष्ट किया है—

> आज सत्य
> असह्य इतना हो गया है
> कान में सीसा गला
> ढलवा सकेंगे
> सत्य सुनने को नहीं तैयार होंगे

(चार खेमे चौंसठ खूंटे, पृ० १७६)

इन पंक्तियों में पुराने मानमूल्यों को विनष्ट होते देख कवि-मन का क्षोभ व्यक्त हुआ है। लेकिन यथार्थवादी कवि इस क्षोभ को पी भी जाता है। क्षोभ और आक्रोश के ऐसे भाव प्रायः पहली प्रतिक्रिया होते हैं। फिर तो वह यथार्थ को सहज भाव से स्वीकारने और उसके बाद तदनुकूल कर्म के लिए स्पष्ट हो जाता है। इस भाव को बच्चन ने 'ध्वस्त पोत' शीर्षक कविता में प्रभावशाली ढंग से व्यक्त किया है—

> क्रोध करना कर्णधारों पर निरर्थक
> वे थके, बूढ़े, पके, संघर्ष से ऊबे
> भुजाओं, कमर, कंधों को ज़रा आराम देना चाहते थे
> हम न हों अनुदार उनके प्रति, ऋणी हम कम नहीं हैं

(चार खेमे चौंसठ खूंटे, पृ० १३२)

यहाँ यथार्थ के प्रति शिकवे-शिकायत का भाव न होकर उसे यथावत् स्वीकार कर लेने का आग्रह है। वास्तव में ऐसे यथार्थबोध को ही प्रौढ़ और परिपक्व यथार्थबोध कहा जायेगा। 'जो हुआ होना वही था' कहकर कवि ने इसी भाव को स्पष्ट किया है। अपनी एक दूसरी कविता में भी वह कहता है—

> और जो होना यही है
> हो
> क्योंकि सारा भूत ही

इसकी गवाही है
कि जो होना हुआ है
वही होकर के रहा है।

(चार खेमे चौंसठ खूंटे, पृ० १७०)

यथार्थ चित्रण के अन्तर्गत मूल्यों का विघटन अथवा उनका संक्रमण भी चित्रित होता है। मूल्यों के भी विविध रूप और प्रकार होते हैं और वे आपस में टकराते हैं। इस क्रम में नये मानमूल्य मिटते हैं या मिटने की प्रक्रिया में होते हैं और नये मूल्यों का उपस्थापन होता है या उपस्थापित होने की प्रक्रिया में होते हैं। यथार्थवादी कवि इन सब बातों की ओर से आँखें नहीं मूंद सकता। बच्चन के यथार्थबोध में भी ये बातें पाई जाती हैं—

मानता हूँ
जिस तरह पहले
पुरानी डाल में भी
नयी टहनी की कहूँ क्या
प्रस्फुरण होता नया था
अब न होता
× ×
मान फूलों का नहीं है
शान काँटों की निरन्तर बढ़ रही है
शाख शाखा से उपेक्षित
फूल फल को कोसता

(चार खेमे चौंसठ खूंटे, पृ० १३७)

बच्चन की परवर्ती रचनाओं में व्यंग्यात्मकता की प्रवृत्ति अत्यन्त प्रमुख है। यह व्यवस्थित रूप से 'बुद्ध और नाचघर' से शुरू होती है। 'त्रिभंगिया' और 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' में इसका निखरा हुआ रूप देखा जा सकता है। बच्चन के व्यंग्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह अधिकतर सरल और सहज है, उसमें क्षोभ, आक्रोश और तिक्तता का अभाव है। हिन्दी के दूसरे समर्थ व्यंग्य कवियों की अपेक्षा उनके व्यंग्य का सामाजिक पक्ष भी अधिक प्रबल है। वे राजनीतिक व्यंग्य प्रायः कम लिखते हैं। सामाजिक व्यंग्य में भी वे जानी-पहचानी बातों, घटनाओं और मुद्राओं को लेते हैं। उदाहरण के लिए 'त्रिभंगिमा' में 'इन्सान कुत्ते' शीर्षक कविता को लीजिये। इसमें बाबू वर्ग के लोगों पर व्यंग्य किया गया है। इनकी बँधी-बँधाई ज़िन्दगी प्रसिद्ध है। उनकी इस ज़िन्दगी का

चित्रण करते हुए बच्चन ने व्यंग्य का रूप किस प्रकार निखारा है, इसे इन पंक्तियों में देखिये—

सात बजकर दस मिनट पर चाय पीते
वक्त छोटी हाजिरी का आठ पचपन
नौ छियालिस छोड़ते घर
ठीक दस दफ्तर पहुँचते
पाँच पैंतीस लौटते हैं
घड़ी जो चाहे मिला ले।

(पृ० १८७-१८८)

यहाँ इनकी समय की पाबंदी को ही व्यंग्य का आधार बनाया गया है। ऐसा इसलिए हुआ है कि कवि शहरी जीवन की यांत्रिकता से ऊबा हुआ है। उसकी ऊब और झुंझलाहट जीवन की स्वच्छन्दता का विनाश होते देख व्यंग्य बन गई है। यहाँ अभिजात वर्गीय जीवन की यांत्रिकता पर बड़ा मीठा व्यंग्य किया गया है।

साहबों के कुत्ते तो आपस में मिलते-जुलते हैं, एक-दूसरे का अंग सूंघते हैं, मुंह मिलाते हैं, रहस्य भाषा में प्रणाम-जुहार करते हैं, लेकिन मालिकों में कोई दोस्ताना रिश्ता नहीं होता। केवल यही नहीं ये कुत्तों का मेल-जोल भी पसन्द नहीं करते हैं। कुत्तों को मिलते-जुलते देख ये कड़े, अधिकारसूचक भर्त्सनापूर्ण शब्दों में कहते हैं—

कम हियर यू डैम व्हिस्की
कम हियर यू डेविल फ्रिस्की

(पृ० १९१)

इस प्रकार व्यंग्य एक अर्थपूर्ण अभिप्राय में बदल जाता है। अर्थात् व्यंग्यकार मानवीयता के ह्रास को लेकर चिंतित है और यहाँ व्यंग्य के रूप में उसकी वही चिन्ता मुखरित हो उठी है।

देश-दशा की विडम्बना को लेकर भी बच्चन के मन में स्वाभाविक चिन्ता का भाव है। मूल्यों के विघटन, विपर्यय आदि को लेकर व्यंग्य करना एक प्रकार से उसी चिन्ता को व्यक्त करना है। आज देश की दशा यह है कि सहज की जगह पर असहज को प्रश्रय मिल रहा है, घी के स्थान पर डालडा का जोर है। इस बात को कवि इस प्रकार कहता है—

इस अहिंसक देश में यदि
मांस-घी पर शाक-घी को

दी गई तरजीह तो आश्चर्य क्या है ।

(त्रिभंगिमा, पृ० १०८)

यहाँ राष्ट्रीय दृष्टिकोण और विचारधारा आदि को लेकर अच्छा व्यंग्य किया गया है । यह व्यंग्य बड़ा अर्थपूर्ण है । जिस प्रकार मांस-घी पर शाक-घी को तरजीह दी जाती है उसी प्रकार वीरता की जगह कायरता, संघर्ष की जगह पलायन और प्रगति की जगह यथास्थिति को महत्त्व दिया जाता है । और यह सब संस्कृति, परम्परा और दर्शन के नाम पर होता है ।

व्यंग्य की मीठी और महीन मार ज्यादा चोट करनेवाली होती । लेकिन यह जानते हुए भी व्यंग्य के तीखेपन का प्रयोग करने से व्यंग्यकार बाज नहीं आता । वास्तव में व्यंग्यकार का मूल भाव क्षोभ का होता है । कुछ उस क्षोभ को पी जाते हैं और हँसते-मुस्कराते हुए व्यंग्य की मीठी महीन मार कर दूसरों को तिलमिला देते हैं । कुछ उसे उस प्रकार पी-पचा नहीं पाते । बच्चन के व्यंग्य में भी कहीं-कहीं पर तीखेपन के भाव हैं । उदाहरण के लिए विषफल शीर्षक कविता में कवि ऐसे लोगों के बारे में, जो कल्पतरु-सा रूप-वर्ण लेकर भी विषफल उगाते हैं, लिखता है—

किन्तु ऐसे बेहया कटकर न मरते
फिर उमड़ते, फिर छछड़ते
और ज़्यादा घने होकर फूलते फलते
जगत की आँख को धोखा बराबर दिए जाने में
सफल जीवन समझते ।

(त्रिभंगिमा, पृ० ११३-१४)

बच्चन के व्यंग्य का क्षेत्र संकुचित नहीं, व्यापक है । लगता है परवर्ती काल में व्यंग्यात्मकता कवि का स्वभावसिद्ध गुण हो गयी है । अब जहाँ, जिस प्रसंग में भी वह बातें करता है, मत देता है, व्यंग्य उसकी वाणी में सहज भाव से आ जाता है । उदाहरण के लिए 'त्रिभंगिमा' की 'विकृत मूर्तियाँ' शीर्षक कविता लीजिए । इस कविता में कवि तथाकथित ऐसे सभ्य और शालीन लोगों पर व्यंग्य करता है जो पुरातत्त्वप्रियता के कारण नहीं वरन् फैशन के नाम पर पुरानी मूर्तियाँ रखते हैं । ऐसे लोग नयी मूर्तियों का अंग-भंग इसलिए कर देते हैं कि इससे वे पुरानी समझी जायें और उससे कमरा और ड्राइंग रूम सजाते हैं । ऐसे लोगों पर व्यंग्य करने के क्रम में इस्लाम मतावलम्बियों की चर्चा है । लेकिन कवि लगे हाथों उसपर भी व्यंग्य कर वार करने से नहीं चूकता—

एक था आदर्श ,उनके पास

जिससे बुतशिकन कहला
रहे वे गर्व करते
बुत-फरोशी पर न उतरे
और है यह बात
अपनी शायरी में बुतपरस्त बने रहे वे।

(पृ० १६८)

यहाँ इस्लाम के धार्मिक और साहित्यिक दृष्टिकोण में जो विरोध है उसको लेकर अच्छा व्यंग्य किया गया है। वास्तव में इस प्रकार प्रासंगिक बातों को लेकर वही कवि व्यंग्य कर सकता है जो मूलतः व्यंग्यकार हो। जो व्यंग्य को सायास भाव से अपनाएगा वह तो उसी विषय को लेकर व्यंग्य करेगा जो उसका मूल विषय है, अन्यान्य बातों को लेकर व्यंग्य करते चलना उसके वश की बात नहीं होगी।

व्यंग्य के प्रकारों पर ध्यान देने से स्पष्ट होगा कि बच्चन ने साहित्यिक व्यंग्य भी लिखे हैं। लेकिन बच्चन के साहित्यिक व्यंग्यों की विशेषता यह है कि वे सामाजिक व्यंग्य भी हैं। उदाहरण के लिए 'त्रिभंगिमा' की कविता 'अजब और अजनबी' लीजिये। इसमें कवि ने उन कवियों और साहित्यकारों पर व्यंग्य किया है जो समाज के लिए अजीव और अजनबी है और अजीब और अजनबियों के प्रति ही आकृष्ट होते हैं। इस रूप में यह एक साहित्यिक व्यंग्य है। लेकिन यह प्रवृत्ति केवल साहित्यिकों तक सीमित नहीं है। समाज के और-और लोग भी इसी प्रवृत्ति और दृष्टि का परिचय देते हैं। ऐसे लोगों को सम्बोधित कर कवि कहता है—

तुम घरेलू से नहीं
अजनबी से आकर्षित होते हो
घर को नहीं
अजायब घर को आँखें फाड़कर देखते हो

(पृ० १५३)

यह व्यंग्य उस व्यंग्य से मूलतः भिन्न है जो अज्ञेय नये कवियों पर करते हैं। यहाँ व्यंग्य का लक्ष्य साहित्यिक मात्र न होकर जन सामान्य है।

यद्यपि व्यंग्य विविध विषय-संबंधी होता है तथापि आधुनिक युग में उसका वह रूप और प्रकार प्रमुखता प्राप्त कर लेता है जो राजनीति से सम्बन्धित है। ऐसे व्यंग्य को राजनीतिक व्यंग्य कहते हैं। आजकल व्यंग्य के इसी रूप का बोलबाला है और विरला ही व्यंग्यकार है जिसे इससे परहेज़ है। आजकल

राजनीति हमारे जीवन से इस प्रकार गुँथ गई है कि हम उससे बच नहीं सकते। बच्चन के व्यंग्य यद्यपि विविध विषय-संबंधी हैं तथापि उनमें राजनीतिक व्यंग्यों का एक विशिष्ट अनुपात है। उदाहरण के लिए उनकी कुछ पंक्तियाँ लीजिये—

(क) इस खड़ाऊँ में अँगूठा डाल देना
तो सरल था, किन्तु वह उठती नहीं है
पहनने वाला कभी चलता न दिखता
बस खड़ा हूँ कह रहा है।

(चार खेमे चौंसठ खूँटे, पृ० १२४)

इन पंक्तियों में गाँधीजी की खड़ाऊँ को आधार बनाकर गाँधीवादियों पर अच्छा व्यंग्य किया गया है।

(ख) घूर का भी भाग
बारह बरस पर है बदल जाता
यहाँ बारह बरस में कुछ भी न बदला

(त्रिभंगिमा, पृ० २१३)

इन पंक्तियों में सरकार और समवेत जातीय जीवन की कच्छप गति पर व्यंग्य किया गया है।

(ग) आज चार हज़ार
साढ़े तीन सौ से तीस ऊपर
दिवस बीते रेंगते
संदेश पर गणतंत्र दिन का
बीस मील नहीं गया है

(त्रिभंगिमा, पृ० २१६)

यहाँ बारह बरस न कह करके चार हज़ार साढ़े तीन सौ से तीस ऊपर कह कर सरकार की निष्क्रियता, अकर्मण्यता और लाल फीताशाही पर खुलकर व्यंग्य किया गया है।

(घ) बंधु, हम तुम एक ही हैं
सुनो तुमको दे रहा धोखा विदेशी
अगर धोखा भी तुम्हें खाना पड़े तो
चाहिए खाना विदेशी छोड़कर खाना स्वदेशी

(त्रिभंगिमा, पृ० २२९)

इन पंक्तियों में राजनीतिज्ञों की उस पीढ़ी का वर्णन है जो अंग्रेज़ों के समय

में कार्यरत थी और अपने स्वदेशीपन का हवाला देकर जनता को ठगने और लाभ उठाने से बाज़ नहीं आती थी। यहाँ उनपर बड़ी मीठी चुटकी ली गई है।

(ङ) छोड़कर औलाद आरोही गया जो
बाप से कुछ कम नहीं है
और उसने
छाप करके योजना, अभियोजना, उपयोजना
परियोजना, प्रायोजना, संयोजना
अखबार का भारी पुलिन्दा
सामने लटका दिया है

(त्रिभंगिमा, पृ० २३१)

इन पंक्तियों में आज के योजनावादी राजनीतिज्ञों की खुलकर खबर ली गई है। पहले के लोग भी जनता को ठगते थे पर उनका नारा कुछ दूसरा था। वे कहते थे कि यदि ठगे जाना ही है तो अपने भाई-बन्दों से ठगे जाओ, विदेशियों से क्यों ठगे जाते हो। लेकिन आज के राजनीतिज्ञ यह नारा नहीं दे सकते। इसलिए वह टट्टी की ओट शिकार करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' में व्यंग्य के सभी रूप और प्रकार मिलते हैं। हमें यह सोचकर सचमुच आश्चर्य होता है कि ये व्यंग्य उस कवि ने लिखे हैं जो केन्द्रीय सरकार की एक महत्त्वपूर्ण चाकरी में है। यहीं स्पष्ट हो जाता है कि बच्चन मूलतः कवि हैं। उन्होंने मधुबाला काल में जो यह कहा था कि—

मुझको न सके ले धन कुबेर
दिखला कर अपना ठाट-बाट
मुझको न सके ले नृपति मोल
दे माल-खज़ाना, राज-पाट

(पृ० ६१-६२)

वह बाद में भी अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ है। सरकारी नौकरी में रहते हुए भी अपने व्यंग्यकार को इस रूप में जिलाये रहना, और केवल जिलाये रहना ही नहीं, उसे बराबर तीक्ष्ण किए जाना सच्चे कवि के वश की ही बात है।

व्यंग्यात्मकता के बाद 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' की दूसरी प्रमुख विशेषता उसकी कुछ कविताओं में व्यक्त अद्भुत अदम्य जिजीविषा और आस्था है। आज जबकि चारों ओर निराशा, कुंठा, मायूसी और त्रास के स्वर सुने जा रहे हैं तो किसी कवि का अदम्य जीवन आस्था का संदेश देना एक बड़ी

बात है। बच्चन के इन दोनों ही संकलनों में ऐसी कितनी ही कविताएँ हैं जो अदम्य जिजीविषा का स्वर स्पष्ट करती हैं। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ लीजिए—

मृत्तिका की सर्जना संजीवनी में
है बहुत विश्वास मुझको
वह नहीं बेकार होकर बैठती है
एक पल को।
फिर उठेगी।

(त्रिभंगिमा, पृ० १५४)

प्रकृति के जड़ बंधनों से मुक्त भी
कुछ है कि जो
झुकता नहीं
खंडित न होता
और धराशायी न बनता।

(वही, पृ० २०७)

भाग्य लेटे का सदा लेटा रहा है
जो खड़ा है भाग्य उसका उठ खड़ा है
चल पड़ा जो भाग्य उसका चल पड़ा है।

(चार खेमे चौंसठ खूंटे, प्र० १३४)

बाहरी सतही विपर्यय से
नहीं विश्वास मेरा कम हुआ है
राग मधुवन के लिए कुछ बढ़ गया है।

(वही, पृ० १३८)

रीढ़ मुझको दो
जहाँ पर हो ज़रूरी
मैं खड़ा हो सकूँ तनकर
लौह दृढ़ तन-प्राण-मन कर
आन पर टूटूं।

(वही, पृ० १८२)

इन पंक्तियों में आस्था, विश्वास, संघर्षप्रियता, जिजीविषा आदि के जो रूप स्पष्ट हुए हैं वह आज के युग में निरन्तर विरल होते जा रहे हैं। इसलिए इनका महत्त्व बढ़ गया है। इन्हें पढ़कर पाठकों को ऐसी ही अनुभूति होती है मानो लू

से झुलसे हुए प्राणों को शीतल बयार के झोंके लग रहे हों।

'त्रिभंगिमा' में स्थान-स्थान पर कवि के कला और साहित्य-संबंधी प्रौढ़ विचारों के भी दर्शन होते हैं। ये विचार युगीन विचारों के मेल में हैं। आज साहित्य की जो नयी व्याख्या की जा रही है बच्चन उससे परिचित लगते हैं। जब वे कहते हैं—

अब मैं इतना पागल नहीं
इतना मतवाला नहीं
इतना बहाव में नहीं
की तटस्थ न हो सकूँ
या
अक्षरों में, शब्दों में
बन्दों में, जिल्दों में
कविता सबसे कम रहती है
ये उसके पते भर हैं
या
दुनिया के सारे कारबार
जीवन के सारे व्यवहार
समय की हर हलचल
हर व्यापार में
जहाँ जान है, ताज़गी है
कुशादगी है, उदारता है
उत्सर्ग है, दान है, बलिदान है
वहाँ कविता का मकान है

(पृ० १३५-३६-३७)

तो स्पष्ट हो जाता है कि कवि छायावादी काव्य धारणा से परिचालित नहीं है। वह कविता की नव्यतम व्याख्या और स्वरूप से परिचित है।

केवल कविता ही नहीं कवि के नव्यतम दायित्व और कर्तव्यों से भी वह परिचित है। नव-लेखन के प्रसंग में ही सम्भवतः सबसे पहले यह अनुभव किया गया कि कविता कवि की वेदना की निर्बाध अभिव्यक्ति नहीं है। यह स्पष्टतः उस धारणा के विपरीत है जिसमें माना गया था—'वियोगी होगा पहला कवि आह से उपजा होगा गान।' अब के साहित्यकार तो स्पष्टतः यह कहते नज़र आते हैं कि वे अपनी वेदना को शंख बनाकर फूकेंगे नहीं, उसका घोष नहीं

करेंगे। इसीसे मिलती-जुलती बात बच्चन भी कहते हैं—

अर्थ-आखर-बल
अगर तुझको मिला है
तो नहीं उपयोग उसका यह
कि तू अपनी व्यथाओं को बढ़ाकर कह

(त्रिभंगिमा, पृ० १६४)

इस प्रकार स्पष्ट है कि बच्चन 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' इन दोनों ही संकलनों में एक जीवंत रचनाकार के रूप में उपस्थित हुए हैं। इन दोनों काव्य-संकलनों में ऐसी कितनी ही रचनाएँ हैं जो उसके समर्थ व्यक्तित्व, सुलझी सुव्यवस्थित दृष्टि और जीवंत लेखन का मर्म उद्घाटित करती हैं। लेकिन जैसा कि मैंने पहले कहा है इन सबको ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों के साथ इस प्रकार गड्डमड्ड करके पेश किया गया है कि साधारण पाठक पहली दृष्टि में उसे देख नहीं पाता। इसलिए समकालीन आलोचना का यह दायित्व हो जाता है कि वह उनपर पूरी रोशनी देकर उन्हें पाठकों के समक्ष रखे।

दो चट्टानें

(१)

'दो चट्टानें' बच्चन का नवीन काव्य-संग्रह है। इतनी अधिक उत्कृष्ट आधुनिक कविताएँ बच्चन के और किसी काव्य-संग्रह में मुश्किल से पायी जा सकेंगी। इस दृष्टि से यह बच्चन के काव्य में अभिनव मोड़ का सूचक है।[१] यों तो 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' में भी बच्चन की प्रौढ़ता, बौद्धिकता और आधुनिकता लक्षित की जा सकती है, लेकिन वहाँ ये गुण पूर्ण रूप से विकसित और प्रतिष्ठित नहीं हुए हैं। उस संकलन में पहले के पूर्वाग्रह काम कर रहे हैं। इसीलिए जहाँ उसमें 'सत्य की हत्या', 'सीधी उँगली' और 'आज़ादी के चौदह वर्ष' जैसी तिक्त यथार्थबोध की कविताएँ हैं, वहाँ 'चल बंजारे', 'फूटी गागर', 'कुम्हार का गीत', 'वर्षा मंगल', 'जामुन चूती है', 'खोलो किवाड़' और 'मालिन बीकानेर की' जैसी कविताएँ भी हैं। केवल यही नहीं 'प्रभु मंदिर यह देह री' और 'मैं तो बहुत दिनों पर चेता' जैसे पुराने ढंग के गीत भी हैं। लेकिन 'दो चट्टानें' के विषय में ऐसी कोई बात नहीं कही जा सकती।

पुस्तक का नामकरण यद्यपि अंतिम कविता 'दो 'चट्टानें' अथवा 'सिसिफस बरक्स हनुमान' के आधार पर हुआ है तथापि यह नामकरण कई दृष्टियों से संगत प्रतीत होता है। यदि नामकरण को प्रतीकात्मक ढंग से ग्रहण किया जाय तो यथार्थबोध और कवि का प्रौढ़ व्यक्तित्व, ये वे दो चट्टानें हैं जो अपनी समस्त दृढ़ता, सबलता और निर्ममता के साथ यहाँ अंकित उपस्थित हैं। बच्चन का यथार्थबोध, जो उनके अन्य काव्य-संकलनों में कड़ी भूमि के रूप में दृष्टिगत है, यहाँ चट्टान में परिणत हो गया है। यथार्थबोध की यह दृढ़ता

१. इस प्रसंग में बच्चनजी का यह व्यंग्य कथन ध्यान देने योग्य है—"हिन्दी में हर नयी पुस्तक के साथ नया मोड़ देखनेवालों की कमी नहीं है—खासकर नये समालोचकों में। जिनके बारे में नये-नये मोड़ों की चर्चा मैं सुन चुका हूँ यदि उनका चित्र आँखों के सामने लाना चाहूँ तो मुझे उन्हें अष्टावक्र के बड़े भाई के रूप में देखना पड़ेगा।"

(चार खेमे चौंसठ खूँटे की भूमिका, पृ० १७)

और परिपक्वता किसी कवि की रचना में क्रमशः आती है। बच्चन के काव्य में भी इसका क्रमिक विकास हुआ है। आगे चलकर कवि के इस यथार्थबोध को उस संगममरी चट्टान में परिणत होना है जिसका हवाला उसकी अंतिम कविता 'दो चट्टानें' में है। यथार्थबोध की शक्ति उसकी दृढ़ता और सबलता में ही है। चट्टान का काला या भूरा रंग या उसका खुरदरापन कला और कविता के प्रसंग में उतने ग्राह्य नहीं माने जा सकते। उसके बदले संगमर्मर की चमक और आब ही अभीष्ट है। बच्चन के यथार्थबोध में चट्टान की सी दृढ़ता आ चुकी है और अब 'दो चट्टानें' काव्य-संकलन से संगमर्मरी चमक और आब भी आने को है।

यथार्थबोध से अलग हटकर यदि हम कवि के व्यक्तित्व को लें तो वह यहाँ अधिक ओजस्वी बनकर आया है। कवि का सबल व्यक्तित्व यहाँ अल्हड़ता और अहंमन्यता का पर्याय नहीं है। व्यक्तित्व के ओज का उद्दाम प्रकाशन बच्चन के पूर्ववर्ती काव्य में भी है,[1] पर वहाँ उसका स्वरूप कुछ ऐसा है कि वह समाज से कटे एक दर्पस्फीत विद्रोही युवक का व्यक्तित्व है जो आवेश-चालित होकर दूसरों को ललकारता नज़र आता है। लेकिन परवर्ती काव्य में उसका व्यक्तित्व कुछ दूसरे ही रूप में सामने आया है। वहाँ वह ऐसे सजग व्यक्तित्व के रूप में उपस्थित है जो अकारण आवेश का प्रदर्शन नहीं करता, अपनी विशिष्टता की उद्घोषणा नहीं करता लेकिन प्रचलित समाज-व्यवस्था या उसके कर्णधारों और संस्थाओं को इतनी छूट नहीं देता कि वे उसका अपमान कर सकें या उसके व्यक्तित्व और कृतित्व का सही या गलत मूल्यांकन कर अपने मनमानेपन का परिचय दें। सार्त्र के प्रसंग में विचार करते हुए कवि ने लिखा है—

संस्थाएँ हों भले ही विश्ववंदित
यह नहीं अधिकार उनको
क्योंकि उनके पास धन-बल
जिस समय चाहें दिखायें मान-टुकड़ा
और प्रतिभा दुम हिलाती
दौड़ उनके पाँव चाटे

(पृ० १५०)

१. मुझको न सके ले धन कबेर
दिखलाकर अपना ठाटवाट
मुझको न सके ले नृपति मोल
दे माल खज़ाना राजपाट (मधुबाला, पृ० ६१-६२)

'सार्त्र के नोबेल पुरस्कार ठुकरा देने पर' कविता का कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। स्यात् हिन्दी में सबसे पहली बार किसी भारतीय कवि ने विश्व साहित्य के एक समर्थ रचनाकार से समकक्षता का दावा किया है। यह दावा गलत या हास्यास्पद कहीं नहीं है। बच्चन ने बड़े आत्मविश्वास से सार्त्र को सम्बोधित कर कहा है—

समवयस्क
समानधर्मा
और मेरी धृष्टता यदि हो क्षमा
कुछ अंश में
समदृष्टि तुझको और अपने को
हृदय से मानता मैं ।

(पृ० १४१)

इस कविता में सबसे पहली बार किसी हिन्दी कवि ने वह गौरव स्वयं प्राप्त किया है जो किसी भी स्वाभिमानी कवि का अभिप्रेत हो सकता है। इस क्रम में याद आता है कि जब सुलेखिका समालोचिका शचीरानी गुर्टू ने अपने 'साहित्य दर्शन' ग्रंथ में कुछ हिन्दी कवियों का श्रेष्ठ पाश्चात्य कवियों से तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया था, तो कुछ साहित्य-प्रेमी बंधुओं को बड़ा अटपटा लगा था। वे सोचते थे कि जब पंत, निराला या महादेवी स्वयं शेली, ब्राउनिंग और रोसेटी की समकक्षता का दावा नहीं करते तो क्या आलोचक का ऐसा करना दुस्साहस नहीं है ? ऐसे लोग हिन्दी कवियों की विनम्रता को उनकी हीनता का पर्याय समझते रहे हैं। ऐसे लोगों को बच्चन ने सही उत्तर दिया है। आज लोग देखें कि हिन्दी का कवि सार्त्र की समकक्षता तब करता है जब वह नोबेल पुरस्कार ठुकरा देता है। यदि बच्चन सच ही सार्त्र से बहुत हीन होते, या अपने को समझते, तो सार्त्र के नोबेल पुरस्कार ठुकरा देने पर उसकी गरिमा और महत्ता से इतने अभिभूत हो जाते कि उसका स्तवन छोड़कर और कुछ नहीं करते। लेकिन बच्चन ने ऐसा नहीं करके, समकक्ष होकर, बातें की हैं। यही इस बात का प्रमाण है कि आज हिन्दी के साहित्यकारों में न तो आत्म-विश्वास की कमी है और न वे हीन भाव के शिकार हैं कि किसी पश्चिमी कवि को कुछ असम्भव करते देखकर दाँतों तले अँगुली दबा लें और चमत्कृत होकर उसकी प्रशंसा में कविताएँ लिख मारें। वास्तव में यह कविता हिन्दी के साहित्यकारों के समवेत समर्थ व्यक्तित्व का ऐसा निदर्शन है जो मुश्किल से झुठलायी जा सकेगी।

'दो चट्टानें' में बच्चन के कवि का प्रौढ़ और विकसित रूप इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जहाँ अपने अन्य काव्य-संकलनों में उसने समसामयिक घटनाओं और प्रसंगों को लेकर लचर कविताएँ लिखी हैं वहाँ 'दो चट्टानें' में ऐसे प्रसंगों और घटनाओं से संबंधित कविताएँ कला की कसौटी पर खरी उतरती हैं। बच्चन कभी भी ऐसे कवि नहीं रहे कि केवल अपने ही सुख-दुख को लेकर मग्न रहते। इसलिए उन्होंने समसामयिक व्यक्तियों, घटनाओं और प्रसंगों को भी अपने काव्य का विषय बनाया। उनकी ऐसी कविताएँ 'बंगाल का काल,' 'सूत की माला', 'खादी के फूल' और 'धार के इधर उधर' संकलनों में प्रचुरता से हैं। लेकिन यदि अनुभूतिगत ईमानदारी और काव्यात्मकता की दृष्टि से विचार किया जाय तो 'बंगाल का काल' को छोड़कर अन्य सभी संकलन बहुत औसत होकर रह गये हैं। इसका कारण सम्भवतः यही है कि समसामयिक प्रसंगों और घटनाओं को कवि औपचारिक कारणों से ही अपने काव्य का विषय बनाने को बाध्य हुआ है। लेकिन 'दो चट्टानें' में लगता है यह औपचारिकता समाप्त हो गई है। संकलन के प्रारम्भ में ही चीनी आक्रमण से संबंधित कई कविताएँ हैं। यह तो ज्ञात ही है कि जब चीनी आक्रमण ज़ोरों पर था तब भारत के कवि धड़ाधड़ उससे संबंधित कविताएँ लिख रहे थे। लेकिन आलोचक तब यह कहने से नहीं चूके थे कि ऐसी अधिकांश कविताएँ रद्दी की टोकरी में रख देने के काबिल हैं। तो क्या बच्चन की चीनी आक्रमण-संबंधी कविताओं में ऐसे दोष आ जाने एकदम स्वाभाविक नहीं थे?—खासकर तब जब कि लोग जानते थे कि बच्चन समसामयिक प्रसंगों को लेकर हल्की कविताएँ लिखने के आदी हैं? लेकिन 'दो चट्टानें' की ऐसी कविताएँ पढ़कर एक सुखद आश्चर्य से अभिभूत हो जाना पड़ता है। लगता है यहाँ आकर बच्चन बदल गये हैं। अब शायद बच्चन का कवि इतना सजग और जीवंत हो उठा है कि नितान्त समसामयिक घटनाएँ और प्रसंग भी उसे जीवन से अलग नहीं प्रतीत होते, वरन् जीवन के प्रकृत हिस्से से मालूम होते हैं। इसीलिए अब उन प्रसंगों और घटनाओं से उनका संबंध औपचारिक न रहकर नितान्त सहज और स्वाभाविक हो गया है। इसीलिए यहाँ चीनी आक्रमण से संबंधित जितनी भी कविताएँ हैं, सभी कला, अनुभूति और काव्यात्मकता की कसौटी पर खरी उतरती हैं।

चीनी आक्रमण से संबंधित 'दो चट्टानें' की सबसे प्रमुख रचना है '२६-१-६६'। यही इस कविता का शीर्षक है। यह कविता कवि की दृष्टि के खुलेपन, साहस, स्वाभिमान और क्षोभ के लिए बार-बार याद की जायेगी। २६ जनवरी को राजधानी में गणतंत्र दिवस समारोह मनाया जाता है।

सन् १९६३ में भी यह समारोह उसी प्रकार मनाया गया जिस प्रकार अन्य वर्ष मनाये जाते थे जब कि तथ्य यह है कि सन् १९६२ में हमें चीनियों के हाथों पराभव के दुख, ग्लानि और क्षोभ झेलने पड़े। यह बात राजनेताओं, देश के कर्णधारों और सेना के अधिकारियों को भले ही न अखरी हो लेकिन स्वतन्त्र देश का स्वाभिमानी कवि इसे कैसे बर्दाश्त कर सकता है। इसीलिए कवि कहता है—

ये सेना के नौजवान हैं
जो दुश्मन के मुकाबले में
नहीं टिक सके
ये बन्दूकें जिनके घोड़े
अरि की बन्दूकों की गोली की वर्षा में
नहीं दब सके
ये ट्रक टैंक चढ़ाई पाकर
काँख-काँख कर बैठ गये जो
औ ये तोपें जो मुँह बाये खड़ी रह गईं
शत्रु सैकड़ों मील देश की
सीमा के अन्दर घुस आया
और अंत में ये जहाज हैं
ऊपर के साखी
नीचे के सैन्य व्यूह विघटन विमर्दन के।

(पृ० २४)

वास्तव में समूचे चीनी आक्रमण के प्रसंग में यह एक अकेली कविता है जो एक ईमानदार कवि के राष्ट्रीय दर्द और क्षोभ को तीव्रता से अभिव्यक्त करती है। यह कविता ही इस बात का प्रमाण है कि राष्ट्रभाषा का कवि इतना मुर्दा नहीं है कि चुभनेवाली और तोड़नेवाली परिस्थितियों की विरूपता को न समझे और उसकी साफ सीधी और बेवाक् अभिव्यक्ति न करे। कवि कहता है—

एक बेहया बेगैरत बेशर्म जाति के
लाखों मर्द औरतें बच्चे
रंग बिरंगे पोशाकों में
राजमार्ग पर भीड़ लगाकर
उन्हें देखकर शोर मचाकर

अपनी खुशियाँ जाहिर करते
शब्द हमारे आहें भरते

(पृ० २४-२५)

केवल चीनी आक्रमण ही नहीं अन्य समसामयिक प्रसंगों से संबंधित कविताएँ भी 'दो चट्टानें' में हैं जैसे पंडित जवाहरलाल के देहावसान से संबंधित कविताएँ। लेकिन जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ यहाँ भी बच्चन के कवि के तेवर एकदम बदले हुए हैं। कहाँ तो राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के निधन के बाद की उनकी कविताएँ हैं और कहाँ ये कविताएँ। लगता ही नहीं है कि दोनों एक ही कवि की कविताएँ हैं। इस प्रसंग से संबंधित सभी कविताएँ इतनी वेधक और सांकेतिक हैं कि पहली दृष्टि में यही नहीं लगता कि ये प्रधानमंत्री के निधन से संबंधित कविताएँ हैं। '२६ मई,' 'गुलाब की प्रकार,' 'द्वीप लोप,' 'गुलाब, कबूतर और बच्चा,' 'दो फूल' और 'कील काँटों में फूल' ये सभी कविताएँ जवाहरलाल से संबंधित हैं। लेकिन इनमें से अंतिम दो कविताएँ कई दृष्टियों से बड़ी महत्त्वपूर्ण हो गई हैं। 'दो फूल' में नेहरू और केनेडी के गुणों और व्यक्तित्वों का जैसा अंकन और आस्फालन हुआ है वह कविता में, इस रूप में बहुत कम देखने में आता हैं। शुरू से लेकर अंत तक दोनों के मनोरम व्यक्तित्व का जो सधा अंकन हुआ है वह ध्यान देने योग्य है—

श्वेत पुष्प जब गिरा उस समय
तप्त शहीदी रक्त-स्नात था
लाल फूल
अपने लोहू की बूँद बूँद जी
बूँद बूँद पी
गिरा जिस समय
उज्ज्वल, शीतल, श्वेत शांत था।

(पृ० ३६)

'कील काँटों में फूल' नेहरू और नौकरशाही से संबंधित कविता है। इस कविता में नेहरूजी के सरस व्यक्तित्व का जैसा सफल अंकन हुआ है वैसा उन ग्रंथों में भी नहीं हो सका है जो उन्हें 'लोकदेव' मानकर लिखे गये हैं। वास्तव में नेहरूजी एक जिन्दादिल इंसान और शासक कलाकार थे। यह उनके जीवन की विडम्बना थी कि उन्हें नौकरशाही के घेरे में रहकर चलना पड़ता था। स्यात् वे इस विडम्बना की भीषणता को उतनी दूर तक नहीं समझ सके थे। लेकिन फिर भी वे अपने व्यक्तित्व से जड़ व्यवस्था के बीच भी एक सौरभ बिखेर देते

थे। कवि ने लिखा है—

जादूगर एक था
बीच कील काँटों के
फूल खिला देता था
मरी इस मशीन को
जरा जिला लेता था
हरता था
मशीन की मशीनियत
देकर के थोड़ी इंसानियत
थोड़ी रूमानियत

(पृ० ४१)

अन्यान्य सामयिक प्रसंगों को लेकर लिखी गई कविताओं में भी, जैसे 'ड्राइंग रूम में मरता हुआ गुलाब' (गजानन माधव मुक्तिबोध की स्मृति में रचित) और 'भोलेपन की कीमत' (पेट्रिस लुमुम्बा की स्मृति में रचित) व्यंजना और सांकेतिकता है।

किसी कवि की सृजन-क्षमता की वास्तविक परीक्षा ऐसी ही रचनाओं में होती है। अपेक्षाकृत कम काव्यात्मक विषय-वस्तु लेकर सफल और सुन्दर कविताएँ लिखना कठिन है। जो इस कसौटी पर खरा उतर गया वह कविता की हर कसौटी पर खरा उतरेगा यह निर्विवाद है।

(२)

'दो चट्टानें' में आधुनिक कविताओं का एक विशिष्ट अनुपात है, यह स्वीकार कर लेने के बाद यह आवश्यक हो जाता है कि उनमें व्यक्त आधुनिक भावबोधों की चर्चा कर ली जाय। आजकल साहित्य में आधुनिकता की चर्चा जिस ढंग से हो रही है उसे देखते हुए ऐसा प्रतीत होने लगा है कि आधुनिकता की अभिव्यक्ति मात्र नये लेखकों का दायित्व है। पुराने लोगों को आधुनिकता से कुछ लेना-देना नहीं है, ऐसा नये लेखकों ने भी मान लिया है और पुराने लेखकों ने भी। आज आधुनिकता के जिस स्वरूप की व्यापक चर्चा हो रही है वह उसका इतना सीमित, संकुचित और आरोपित रूप है कि उससे बहुतों का असहमत होना सहज और स्वाभाविक है। इसलिए तथाकथित आधुनिकता ने अपने पक्ष और विपक्ष में दो दल के लोगों को खड़ा कर लिया है। एक दल उसका प्रवक्ता है और दूसरा आलोचक। वास्तव में ये दोनों ही दल अतिवादी दृष्टिकोण को अपनाकर चल रहे हैं।

'दो चट्टानें' का कवि भी आधुनिकता का प्रवक्ता न होकर अधिकतर आलोचक होकर ही सामने आता है। इस क्रम में यत्किंचित् असहिष्णुता का आभास भी उसमें पाया जा सकता है। यद्यपि यह असहिष्णुता कहीं-कहीं उचित आधार पर स्थित है तथापि है वह असहिष्णुता ही। नयों के प्रति पुरानों का यह दृष्टिकोण पुरानों पर नयों का प्रभाव ही सूचित करता है। लेकिन असहिष्णु होकर भी इस प्रभाव को स्वीकारना इससे कहीं अच्छा है कि भ्रम में रहकर उससे अपना अपरिचय प्रकट किया जाय या अपनी अहंमन्यता स्पष्ट की जाए।

'दो चट्टानें' की उन कविताओं में कवि का आधुनिक भावबोध अपेक्षाकृत अधिक ठीक-ठीक उभरा है जहाँ वह आधुनिकता को लेकर अनावश्यक वाद-विवादों में नहीं उलझा है। इस दृष्टि से 'सृजन और साँचा' शीर्षक कविता का विशेष महत्त्व है। इस कविता में यह स्पष्ट हुआ है कि प्रचलित साहित्य-रूपों के प्रति आधुनिक लेखकों का दृष्टिकोण क्या और कैसा रहता है। बच्चन कहते हैं—

बैठ बनाया था वाणी का साँचा तूने जो
अब तो वह बहु प्रयोग से, दुरुपयोग से,
युग-प्रगति, युग-परिवर्तन से,
कोर क्षीण बेकार हो गया।

(पृ० ८३)

कठिन साधना-श्रम से उपलब्ध शिल्प की व्यर्थता का ऐसा बोध एक आधुनिक कवि को ही हो सकता है। वही नये सृजन के लिए नये साँचों की तलाश को स्वाभाविक मान सकता है। पुराना कवि तो पुरानी ही शैली को घसीटे लिए जाता है। आधुनिक कवि मानता है कि आधुनिक भावबोध की सम्यक् अभिव्यक्ति के लिए साहित्य रूप भी आधुनिक होने चाहिये। इस आधुनिक साहित्य रूप के प्रति भी आधुनिक कवि का दृष्टिकोण यह है—

सृजन आज का विद्रोही है
जिस साँचे में ढलकर
वह बाहर आता है
उसको तोड़ दिया करता है

(पृ० ८४)

अपनी उपलब्धियों के प्रति यह निर्ममता और निस्संगता आधुनिक कलाकारों का लक्ष्य है।

जीवन की निरर्थकता का अविरल बोध भी अब जीवन के आधुनिक मान-

मूल्यों में गिना जाने लगा है। भौतिक सभ्यता के व्यापक प्रचार-प्रसार ने मनुष्य को इतना बौना सिद्ध कर दिया है कि वह अपने को क्षुद्र मानने लगा है। आज जीवन उसके लिए अर्थहीनता का पर्याय है। ऐसे भाव भी 'दो चट्टानें' की कविताओं में कहीं-कहीं हैं—

न कुछ अर्जित हुआ
न कुछ अर्पित हुआ
न दुआ सुनी, न शुक्रिया
न गर्व ने छेड़ा
न संतोष ने छुआ
और अब आई खड़ी जीवन की साँझ है।

(पृ० १३०)

आधुनिक भावबोध के अन्तर्गत आज यह मत भी मान्य है कि मूल्यों का विघटन होने से एक व्यापक अव्यवस्था चारों ओर फैली है। यह बाहर तो इतनी दृष्टिगत नहीं होती, क्योंकि विविध राजनीतिक और सामाजिक संस्थाएँ टूटते हुए मनुष्य को इस प्रकार सम्हाले हुई हैं कि वह टूटा हुआ होकर भी ऊपर-ऊपर से साबित नज़र आता है, लेकिन उसका अन्दर रिक्त और सूना-सूना-सा है। इसे कवि ने इस प्रकार व्यक्त किया है—

काल जर्जर हो
विकुंठित और विघटन हो रहे हैं
अव्यवस्था आज बाहर
किन्तु उससे अधिक भीतर

(पृ० १७०)

आधुनिक मानव-मन का यह व्यथा-बोध दिनानुदिन तीव्र ही होता जा रहा है। इसका कारण यह है कि वह विरूप परिस्थितियों के व्यूह को अपने चारों ओर घिरा पाता है। वह लाख प्रयत्न करे इन परिस्थितियों पर उसका कोई वश नहीं चलता।

शत्रु जीवन के, जगत के
दैत्य अचलाकार
अडिग खड़े हुए हैं
कान इनके विवर इतने बड़े
अगनित शब्द-शर नित
पैंठते हैं एक से औ

दूसरे से निकल जाते
रोम भी उनका न दुखता या कि झड़ता
और लाचारी, निराशा क्लैव्य कुंठा का तमाशा
देखना ही नित्य पड़ता।

(पृ० १५७)

ऐसी परिस्थितियों में रहने के कारण ही आज का आदमी आदमी न रहकर काठ का आदमी हो गया है। इस काठ के आदमी की सिफ्त यह है कि—

मुँह तो चलाता पर
बात सदा दूसरे की
दूसरे के स्वर में दुहराता है
गाता हुआ, गाता नहीं
दूसरे का टेप किया गीत ही बजाता है।
संभोग करता है
सृजन नहीं करता है
कर नहीं पाता है

(पृ० ९९)

आधुनिक मानमूल्यों का निदर्शन करते हुए भी कवि का दृष्टिकोण प्रमुखतः यह है कि वह खोखले आधुनिक मानमूल्यों और उनकी अर्थहीनता पर चोट करे। इसीलिए वह इन मूल्यों का प्रवक्ता न होकर आलोचक कहा गया है यद्यपि कुछ आधुनिक मानमूल्यों की सार्थकता को उसने सराहा और स्वीकारा है, यथा—

आज अचरज की जगह दुनिया नहीं है
जो असंभव और संभव को
विभाजित कर रही थी
देख अब वह फिर रही है

(पृ० ११०)

तथापि उसने अधिकतर व्यंग्य और आक्रोशमूलक मुद्रा ही अपनाई है। ऐसी मुद्राएँ 'दो चट्टानें' की कई कविताओं में स्पष्ट हुई हैं—जैसे 'गैंडे की गवेषणा,' 'कवि से केंचुआ' और 'क्रुद्ध युवा बनाम क्रुद्ध वृद्ध' आदि मे। ऐसी ही कविताओं के आधार पर कवि को किंचित् असहिष्णु कहा गया है।

(३)

'दो चट्टानें' में वैसे तो कितनी ही अत्युत्कृष्ट कविताएँ हैं लेकिन उनमें से दो विशेष ध्यान देने योग्य हैं : एक 'सार्त्र के नोबेल पुरस्कार ठुकरा देने पर'

और दूसरी 'दो चट्टानें' अथवा 'सिसिफस वरक्स हनुमान।' इसलिए इन दोनों का विशेष विवेचन आवश्यक है।

'सार्त्र के नोबेल पुरस्कार ठुकरा देने पर' एक सम्बोध गीत है। अंग्रेज़ी में इसे ओड (Ode) कहते हैं। लेकिन बच्चन का यह सम्बोध गीत कुछ दूसरे प्रकार का है। इसे सम्बोध गीत न कहकर सम्बोध कविता या पत्र कविता भी कह सकते हैं। सम्बोध गीत मुख्यतया गेय रचना होती है। पहले ओड वाद्ययंत्रों की सहायता से गाये जाते थे। इसलिए हिन्दी में जो सम्बोध गीत हैं वे मुख्यतः गेय हैं। यहाँ तक कि निराला ने भी, जो मुक्त छन्द में सम्बोध गीत लिखने के लिए प्रसिद्ध रहे हैं, जैसे बादल राग, जागो फिर एक बार, कुछ सम्बोध गीत गेय रूप में लिखे हैं जैसे 'यमुना के प्रति'। लेकिन बाद में चलकर सम्बोध गीत के स्थान पर सम्बोध काव्य लिखे जाने लगे जो पत्रकाव्य (Epistle) और सम्बोध काव्य के मिले-जुले रूप कहे जा सकते हैं। बच्चन की यह कविता भी इसी रूप में देखी जा सकती है। सम्बोध गीत के संबंध में विचार करते हुए हिन्दी साहित्य कोश में एल० बनियान के मत का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि जो किसी सार्वभौम अभिरुचि को जागरित करनेवाले विषय के संबंध में हो उसे सम्बोध गीत या सम्बोधन गीत कहते हैं।[1] इस दृष्टि से सार्त्र के नोबेल पुरस्कार ठुकरा देने पर कविता के विषय को सम्बोध गीत का विषय कहना सहज स्वाभाविक है। ऊपर से देखने पर यह एक कवि कलाकार के व्यक्तिगत जीवन-प्रसंग की एक घटना मात्र प्रतीत हो सकती है, लेकिन यदि गहराई से विचार करें तो इसका सार्वभौम महत्त्व है। नोबेल पुरस्कार ठुकरा देने के पीछे सार्त्र का एक विशिष्ट भाव था और वह था मानवीय गौरव की सुरक्षा का भाव। आज नोबेल पुरस्कार समिति के निर्णय को प्रभावित करने-वालों में ऐसे लोग भी हैं जो इसे एक हथकंडा बनाये हुए हैं और इसके सहारे कृती साहित्यकारों की अवहेलना और मान विमर्दन करने की नीति अपनाये हुए हैं। आज कलाकार को पुरस्कृत करने के पीछे एहसान जताने का भाव है, कलाकार को पुरस्कृत कर गौरवान्वित होने का भाव नहीं। समिति के निर्णय को प्रभावित करनेवालों का यह भाव उस प्रमुख भाव से मिलता-जुलता है जो पूँजीपतियों, सत्ताधीशों और अधिकारियों के मन में कवि कलाकारों के लिए स्वाभाविक तौर से है, कि वे उनसे महान हैं, वे कला और कलाकार की परवरिश कर सकते हैं, उनका पोषण कर उन्हें प्रोत्साहित कर सकते हैं,

१. भाग १, पृ० ७९४

अर्थात् कलाकार उनपर निर्भर हैं। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में पले हुए कर्णधारों के मन में ऐसे भावों का होना सहज स्वाभाविक है क्योंकि वे पैसा और पूँजी को साहित्य, कला, शास्त्र और विद्या से बढ़कर मानते हैं। यह सचमुच चिंता का विषय है। यह केवल साहित्यकार और सत्ताधीश का प्रश्न नहीं है वरन् मूल्यों का प्रश्न है, स्वस्थता मूल्यों को हीनतर मूल्यों से विस्थापित करने का प्रयास है और इसलिए इसमें सबकी अभिरुचि होनी स्वाभाविक है। इस प्रसंग में विचार करने से स्पष्ट होगा कि सार्त्र का नोबेल पुरस्कार ठुकराना एक कलाकारोचित कार्य तो है ही, एक मानवोचित कार्य भी है। जो भी बेड़ी या शृंखला मानवीय महानता को बद्ध करे उसे तोड़ना मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिये। सार्त्र ने नोबेल पुरस्कार ठुकराकर यही कार्य किया था। इसलिए इस विषय को सम्बोध गीत का विषय बनाना सर्वथा समीचीन और स्वाभाविक है।

सम्बोध काव्य में यदि पत्रकाव्य की शैली का समावेश हो जाय तो सबसे पहली बात तो यह होगी कि वह अधिक मर्मस्पर्शी हो जायगा। पत्र अपनों को ही लिखे जाते हैं। और लिखे जाने के लिए आत्मीयतापूर्ण शैली अपनाई जाती है। रचनात्मक साहित्य में पत्र विधा का स्वीकरण अकारण और अनायास नहीं हुआ है, इसके पीछे यथेष्ट कारण हैं। जब यह अनुभव किया गया कि बिना किसी विधा के स्वीकरण के रचनात्मक साहित्य में अधिक आत्मीय सम्पर्क नहीं बन सकता तो यह विधा व्यावहारिक जीवन से उठाकर साहित्य में ले ली गई। सम्बोध काव्य में यों भी एक निकटता की अनुभूति होती है लेकिन वह पत्रकाव्य की शैली में लिखा जायगा तो अधिक आत्मीयतापूर्ण हो जायगा। उभय विधाओं के ये गुण बच्चन की प्रस्तुत कविता में पर्याप्तरूपेण लक्षित किये जा सकते हैं। कविता के प्रारम्भ में ही उभय पक्ष की यह निकटता और आत्मीयता प्रत्यक्ष हो जाती है जब बच्चन कहते हैं—

समवयस्क
समानधर्मा
और मेरी धृष्टता यदि हो क्षमा
कुछ अंश में
समदृष्टि तुझको और अपने को
हृदय से मानता मैं

(पृ० १४१)

केवल यही नहीं विधायक कल्पना के उपयोग से कवि ने कविता में और भी आत्मीयतापूर्ण चित्र उरेहे हैं। एक जगह वह कहता है—

कल्पना मैं कर रहा हूँ
किसी पेरिस की सड़क पर
किसी काफे में अकेले
हाथ टेके मेज़ पर बैठा हुआ तू
और तेरी उँगलियों में
एक सिगरट जल रही है
देखता निरपेक्ष तू
बाज़ार की रँगरेलियों को
खबर आई है कि तुझको
ओसलो का पुरस्कार दिया गया
साहित्य-विषयक !
और अन्यमनस्कता से
झाड़कर सिगरेट
तूने सिर्फ इतना ही कहा
'वह नहीं स्वीकार मुझको ।'
मित्र, लेखक-बंधु, प्रेस रिपोर्टर
तुझको मनाने में सफल हो नहीं पाये जो
निराश चले गये हैं
और लेकर कार तू
है दूर जाता भीड़ से अज्ञात पथ पर
गीत शायद एक मेरा गुनगुनाता ।

(पृ० १५१)

यहाँ कल्पना के सहारे जिस आत्मीयतापूर्ण चित्र का अंकन किया गया है उसके पीछे महान लक्ष्य की एकता, सहानुभूति और मानवीयता का पृथुल स्पर्श है। भिन्न धर्म, भिन्न भाषा, भिन्न संस्कृति आदि होने पर भी यहाँ दो कलाकार इस प्रकार मिले हैं कि दो शरीर एक प्राण हो उठे हैं। वास्तव में बच्चन की इस कविता की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि इससे स्थान, धर्म, भाषा और संस्कृति आदि की दूरी को पार कर जो सम्बोध गीत लिखा है वह पहले के सम्बोध गीतों से इस अर्थ में भिन्न है कि पहले के कवियों का सम्बोध विषय बहुत कुछ इनके परिवेश से ही संबंधित होता था। चाहे निराला का 'यमुना के प्रति' हो या 'बादल राग' या पंत की 'भावी पत्नी के प्रति' या दिनकर का 'हिमालय' ये सभी सम्बोध विषय हमारे अति परिचित हैं। इनसे इनके

रचयिता कवियों का लगाव सहज स्वाभाविक है । इस कारण यदि इन सम्बोध कविताओं में आत्मीयता का यह उद्रेक होता है तो यह उचित और स्वाभाविक ही है । लेकिन सार्त्र से बच्चन का, या कि हिन्दी लेखकों का, कोई ऐसा लगाव नहीं सिद्ध किया जा सकता । विशेष रूप से बच्चन तो सार्त्र से और भी कम प्रभावित हैं । सार्त्र के अस्तित्ववाद से प्रभावित हिन्दी के दूसरे ही लेखक हैं जो सार्त्र का नाम लेते या उनकी पंक्तियों को उधृत करते फूले नहीं समाते । लेकिन वे लोग सार्त्र के नोबेल पुरस्कार ठुकरा देने पर सार्त्र को बधाई नहीं दे सके । उन्हें तो स्यात् ऐसा लगा होगा कि यह कैसी बेवकूफी की सार्त्र ने, इतना सम्मान और इतना रुपया त्याग दिया उसने ! ऐसे लेखक कहने को ही व्यक्ति-स्वातंत्र्य और मानवीय दायित्व के राग अलापते हैं ।

इस कविता में बच्चन ने सार्त्र से आकस्मिक तादात्म्य स्थापित किया है । लेकिन आकस्मिकता में न तो नाटकीयता है और न औपचारिकता । जिस प्रकार दो सहृदय, सज्जन व्यक्ति पहली बार मिलते हैं, एक-दूसरे के अन्तरंग में घर कर लेते हैं उसी प्रकार बच्चन ने पहली बार में ही सार्त्र से ऐसा संबंध बना लिया है कि वह उनका चिर पुरातन संबंध प्रतीत होता है ।

सम्बोध गीत में सम्बोधन तो होता ही है लेकिन उद्बोधन का भाव भी होता है । हिन्दी-साहित्य कोश में भारतेन्दु कृत प्रारम्भिक सम्बोध गीत 'विजयिनी विजय वैजयन्ती' का उल्लेख किया गया है और उसकी इस पंक्ति का हवाला दिया गया है—'अरे वीर इक बेर उठहु सब फिर कत सोये' जिसमें उद्बोधन का रूप स्पष्ट है ।[१] दिनकर के 'हिमालय' और निराला के 'बादल राग' और 'जागो फिर एक बार' में भी यह उद्बोधन का स्वर स्पष्ट है । तो क्या बच्चन ने भी अपनी इस कविता में उद्बोधन के स्वर को समाविष्ट करने की चेष्टा की है ? उपशीर्षक देखकर तो ऐसा ही लगता है । शीर्षक के बाद उपशीर्षक देकर कवि ने लिखा है—'हिन्दी के बुद्धिजीवियों की सेवा में ।' इससे स्पष्ट है कि इस कविता से कवि ने हिन्दी के बुद्धिजीवियों को उद्बोधित करना चाहा है । इस संक्षिप्त उपशीर्षक के देने से ही कविता में अत्यन्त प्रच्छन्न व्यंग्य का समावेश हो गया है । यदि कोई दूसरा कवि होता तो कविता के पहले एक संक्षिप्त टिप्पणी भी जड़ सकता था और अपनी बात को बहुत खल्वाट तरीके से, या कहें भोंडे तरीके से, कह सकता था । लेकिन बच्चन जैसे सभ्य, शालीन और कलाकार लेखक को कथन की यह पद्धति

१. पहला भाग, पृ० ७६४

स्वीकार नहीं हो सकती थी । हिन्दी में सरकारी या गैरसरकारी पुरस्कारों, उपाधियों, सम्मानों और अन्यान्य प्रलोभनों का जो बोलबाला है, और बड़े-बड़े साहित्यकार कलाकार उसके लिए जिस प्रकार छीना-झपटी कर रहे हैं, वह सचमुच लज्जा, ग्लानि और रोष का विषय है । यदि इस बात को लेकर कोई हिन्दी के साहित्यकारों को खरी-खरी सुनाये, उनपर चुभते हुए व्यंग्य-बाणों की बौछार करे तो यह एक मामूली बात होगी । इसके साथ ही यदि कोई उनके ओछे कर्मों की भर्त्सना करके उन्हें उपदेश दे दे तो यह भी वाजिब बात होगी । यह सब काम प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से हो सकता है और सार्त्र को सम्बोधित इस कविता में इन बातों के यत्किंचित् समावेश का अवसर भी था । लेकिन बच्चन ने ऐसा कुछ नहीं किया है । कविता पढ़ते ही यह स्पष्ट हो जाता है कि कलाकार के स्वाभिमान की जैसी रक्षा सार्त्र ने की है वैसी, आज भारत में, भारतीय कलाकारों द्वारा, सम्भव नहीं रह गई है । लेकिन बच्चन इन सब बातों को कड़ुवी घूंट की तरह पी गये हैं । अपना यह आक्रोश उन्होंने कविता में कहीं सीधे-सीधे व्यक्त नहीं किया है । इससे कवि का संयम, उसकी शालीनता और उसका कला-विवेक स्पष्ट हुआ है । लेकिन जिन बातों को उसने सीधे-सीधे नहीं कहा है क्या वे अनकही रह गई हैं ? 'हिन्दी के बुद्धिजीवियों की सेवा में' यह छोटा उपशीर्षक ही उन बातों को उजागर कर देता है । इस प्रकार यहाँ प्रच्छन्न उद्‌बोधन का भाव भी आ गया है और छद्म व्यंग्यात्मकता के कारण यह और भी प्रभावशाली हो उठा है ।

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था में विश्वविद्यालयों, विश्ववंद्य अकादमियों और प्रसिद्ध संस्थाओं की क्या दशा होती है, यह इस कविता में अच्छी तरह स्पष्ट हुआ है । इस रूप में कवि ने इन संस्थाओं का कच्चा चिट्ठा पेश किया है । वास्तव में जिसका जितना ही नाम है वह अन्दर से उतना ही खोखला और जर्जर है । सम्भव है विदेशों में बच्चन को और भी ऐसे अनुभव हुए हों । भारत में तो ऐसे अनुभव निरन्तर हो ही रहे हैं । केन्द्रीय सरकार के बड़े-बड़े दफ्तरों से लेकर पार्लियामेंट तक का अनुभव कवि को है । लेकिन ऐसी संस्थाओं की छल क्षुद्रताओं से साबका पड़ना एक बात है और इनके कारण पीड़ा का अनुभव करना, तिलमिलाहट का बोध और फिर उसे व्यक्त करने के लिए उद्यत हो जाना, ईमानदार व्यक्ति के वश की ही बात है । जब बच्चन कहते हैं—

विश्वविद्यालय बँधे हैं
विगत मूल्य परम्परा में
और अब तो बिक रहे वे

राजनीति खरीदती है
आज उनकी डिग्रियाँ—आनरिस काजा—
योग्यता के लिए
प्रतिभावान को अर्पित न होतीं
कूटनीतिक कारणों से
दी दिलाई और पाई जा रही है ।

(पृ० १४६)

तो केवल देशी विश्वविद्यालयों का नहीं वरन् यूरोपीय विश्वविद्यालयों का भी पर्दाफाश होता है। ठीक यही बात अकादमियों के लिए भी कही जा सकती है।

औ अकादमियाँ
समय जर्जरित, जड़-दृढ़-हूश
दकियानूस
सिद्धांतों विचारों के जरठ अड्डे रही हैं
और अब वे
स्वार्थ साधक, चालबाज़, प्रचार का भी
क्षुद्रताओं की बड़ी दुर्भेद्य गढ़ियाँ

इस प्रकार इस कविता में भी बच्चन का यह अक्खड़ अन्दाज़ देखा जा सकता है जो प्रारम्भ से उसकी विशेषता रही है। इस मामले में कवि ने शायद कोई समझौता करना नहीं सीखा है। पहले भी वह बेवाक् होकर घोषणा करता था—

मुझको न ले सके धन कुबेर
दिखला कर अपना ठाटबाट
मुझको न सके ले नृपति मोल
दे माल खज़ाना, राजपाट

और अब भी वह सरकार के बारे में खुले आम कहता है—

और सरकार कभी होती नहीं
पावन्द
सच की, न्याय, नैतिकता, उचित की
उचित अनुचित
जो बनाये रहे उनकी अडिग सत्ता
बेहिचक बेझिझक है करणीय उनको ।

सरकार के संबंध में यह सामान्य कथन कौन कह सकता है कि भारतीय सरकार पर लागू नहीं है? इस प्रकार सम्बोध काव्य और पत्रकाव्य होते हुए भी

इसमें रचयिता कवि के व्यक्तित्व की झाँकी भी यत्र-तत्र अनायास मिल जाती है जिससे कविता में एक और रंग जुड़ गया है।

(४)

'दो चट्टानें' अथवा 'सिसिफ़स बरक्स हनुमान' इस संकलन की ही नहीं वरन् बच्चन की अब तक की कविताओं में कई दृष्टियों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह बच्चन की अब तक की कविताओं में सबसे अधिक लम्बी है। केवल आकार ही नहीं, वस्तु-नियोजन की दृष्टि से भी यह उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। इसमें दो प्रतीकों—सिसिफ़स और हनुमान के सहारे—हमारे युग की कई बातें प्रभावशाली ढंग से सामने रखी गई हैं। यद्यपि कथा में मुख्य दो ही प्रतीक पात्र हैं सिसिफ़स और हनुमान तथापि यूनानी और भारतीय दोनों ही पुराण-गाथाओं के कितने ही पात्र और चरित्र लाये गये हैं। उदाहरण के लिए करबरस, प्लूटो, ऐटलस, प्रोमीथियस, एग्रोलस, ज़ीयस, हनुमान, भीमसेन, रावण, रामचन्द्र, भरत, अंजना (इसके पूर्वजन्म के अप्सरा नाम पुंजिकस्थला का भी उल्लेख है) राहु, इन्द्र, ऐरावत, सुग्रीव, अक्षय, विभीषण आदि कितने ही चरित्रों का संक्षिप्त या विशद उल्लेख है। उदाहरण के लिए कुछ थोड़े से गौण पात्रों के विवरण लिए जा सकते हैं। पहले करबरस का वर्णन लीजिये—

ताकता है एक ताक़तवर महा कूकर
जिसे करबरस कहते,
तीन मुख का—
मुख भयंकर काल के-से—
आँख से ज्वाला उगलता,
नासिका से धूम्र काला,
दीर्घ, तीक्ष्ण, कराल, दंष्ट्री,
पूँछ में फन काढ़कर नागिन झुकी-सी,
और पट्टे की जगह पर
साँप काले, ज़हरवाले और लम्बे
गले से लिपटे हुए हैं;
भूँकता जैसे कि कम जल से भरे बादल गरजते,
दौड़ में बिजली नहीं है पार पाती।

(पृ० १७३)

दूसरा चित्र ऐटलस का है—

ऐटलस है, श्वसुर उसका,

जिसे ज़ीयस, देवपति, से
द्रोह करने की सज़ा यह दी गई थी,
गगन-मंडल
स्कंध-बाँहों पर उठाये !
हो गया है जड़ उठाये ही उठाये !

(पृ० १७५)

तीसरा चित्र प्रोमीथियस का लें—

ऐटलस का बंधु
प्रोमीथियस भी था
स्वर्ग से उसने चुराकर आग
दी थी मानवों को।
दंड इस अपराध का था
लौह शृंखल से बँधे चट्टान पर वह,
एक भारी गरुड़ दिन भर
मांस उसके पेट का नोचे निरंतर और खाये
रात को भर जायँ सारे घाव,
प्रातः गरुड़ आकर क्रूर क्रम यह फिर चलाये,
और चलता जाय यह क्रम सर्वदा को;

(पृ० १७५-७६)

ऐसे ही और कई उदाहरण दिये जा सकते हैं। लेकिन स्थानाभाव के कारण इतने से ही संतोष करना उचित है। कहने का तात्पर्य यह कि यद्यपि कविता में सिसिफ़स और हनुमान की ही प्रधानता है तथापि कवि ने अन्य प्रासंगिक पात्रों को भुलाया नहीं है। इससे उसकी वर्णनात्मक प्रतिभा का पता लगता है। बच्चन अब तक गीत-कवि के रूप में प्रसिद्ध रहे हैं। गीत-कवि की प्रतिभा वर्णनात्मक कम होती है, उसका ध्यान भाव के संचरण पर अधिक रहता है। वह मूर्त विवरण की अपेक्षा अमूर्त भावों को अधिक महत्त्व देता है। लेकिन इस कविता में प्रसंग आते ही बच्चन जिस प्रकार प्रासंगिक पात्रों, घटनाओं और स्थानों की भरमार कर देते हैं उससे स्पष्ट होता है कि उनमें प्रबंधात्मक प्रतिभा भी कम नहीं है। स्मृति-विधायिनी कल्पना का उपयोग करके कथा के एक सूत्र से दूसरी कथा के सूत्र को इस प्रकार मिला देना कि दोनों में एकतानता और तारतम्य आ जाय प्रबंध कवि की विशेषता समझी जाती है। ये विशेषताएँ इस कविता में अनेकशः देखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए

एक जगह हनुमान का वर्णन है—

राम-भक्त हनुमान
मध्य में, कदलीवन के,
दिव्य रूप साक्षात खड़े हैं ।

(पृ० २०१)

यहाँ इतना वर्णन पर्याप्त होता । कवि इसके बाद ही मूलकथा को आगे बढ़ा सकता था लेकिन मध्य कदलीवन से उन्हें एक और बात की याद आती है। वह कहता है—

वन-प्रवास में भीमसेन को
यहीं हुए थे दर्शन उनके—

लेकिन कवि इस क्रम को यहीं रुकने नहीं देता । उसकी कल्पना और दूर जाती है और तब जो झाँकी हमारे सामने आती है उसमें महाभारत की एक संक्षिप्त कथा आ जाती है—

भीमसेन को यहीं हुए थे दर्शन उनके—
वायु-पुत्र होने के नाते,
अपने ही अग्रज भ्राता के—
जबकि द्रौपदी की इच्छा पूरी करने को—
दिव्य पद्म का गुच्छा ला अर्पित करने को—
वे कुबेर की पुष्करिणी की ओर चले थे
जिसका सरसिज एक
हवा से उड़कर, आकर
नित्य-यौवना द्रुपद-सुता के हाथ पड़ा था
औ' वे उसकी दिव्य गंध से,
रुचिराकृति से, मोहित होकर
और के लिए मचल उठी थीं ।

(पृ० २०१-२)

कल्पना, वस्तु-योजना और वर्णन का ऐसा रूप बच्चन की और किसी कविता में दृष्टिगत नहीं होता । यहाँ कथा से कथाएँ इस प्रकार निकलती हैं जैसे तनों से शाखें निकलती हों । और इनका निकलना कितना स्वाभाविक है । इसलिए इस कविता के आधार पर यह कहना सही है कि बच्चन में अद्वितीय वर्णनात्मक प्रतिभा भी है ।

वर्णनात्मकता में केवल पात्रों और चरित्रों के वर्णन ही नहीं स्थान, काल और क्रियाओं के वर्णन भी आते हैं । इस दृष्टि से भी इस कविता से कितने ही

उद्धरण जुटाये जा सकते हैं। यहाँ उनका उल्लेख न कर संकेत मात्र दे देना अलम् है। कविता के पूर्वार्द्ध में हेडीज़ की घाटी का जैसा वर्णन हुआ है वह कवि की प्रतिभा स्पष्ट करता है। यूनानी पुराकथाओं का वातावरण भारतीय पुराकथाओं के वातावरण से भिन्न होता है। यह बात बच्चन के हेडीज़ की घाटी और गंधमादन पर्वत के वर्णन से स्पष्ट होती है। यदि कविता से अलग कर ये दोनों विवरण पाठकों के सामने रख दिये जायँ तो सुधी पाठक सहज ही कह देंगे कि एक यूनानी दंतकथाओं में वर्णित कोई स्थान है और दूसरा भारतीय पौराणिक गाथाओं का कोई स्थल। इसी प्रकार एग्रोलस के समय के एलोसिया द्वीप का वर्णन और ईफाइरा नगरी का वर्णन भी बहुत सुन्दर और स्वाभाविक है। भवनों, देवमंदिरों, सभा-मंडपों, मीनारों-गुम्बदों, बाज़ार, पनघट, बाग, उपवन, कूप-वापी, शैल-सरवर, राजमार्ग, मग और बाट-वीथी सबका यथा-योग्य उल्लेख है। इस प्रकार इस कविता में बच्चन पहली बार एक भिन्न प्रकार की प्रतिभा लेकर सामने आये हैं और उसे देखते हुए यह आशा बँधती है कि निकट भविष्य में ही यह कवि कोई अधिक पूर्ण और कलात्मक प्रबंध-काव्य भी लिख सकता है।[1]

जब कविता की प्रबंधात्मकता का विशेषत: उल्लेख हुआ है तो इस दिशा में कुछ और विवेचन आवश्यक है। इस दृष्टि से प्रारम्भ, निर्वाह और अंत पर ध्यान देना ज़रूरी है। कविता एक प्रस्तावना से शुरू होती है—

> कल्पना के बहुत ऊँचे शैल पर
> आसीन हूँ मैं।
> मैं यहाँ से देखता हूँ

(पृ० १६५)

इस प्रकार कविता उत्तम पुरुष में शुरू होती है। कहने का तात्पर्य यह है कि

१. इस प्रसंग में उस प्रश्न का स्मरण हो आना स्वाभाविक है जो दिनकर सोनवलकर ने बच्चनजी से पूछा था—दिनकरजी ने 'उर्वशी' लिखी, पंतजी ने 'लोकायतन'। निकट भविष्य में क्या आप भी कोई महत् काव्य लिखने की दिशा में सोच रहे हैं? इसका उत्तर देते हुए बच्चनजी ने लिखा था—"साहित्य के परिवार में यह नहीं चलता—'दादा नाचे, मैं भी नाचूँ।' दिनकर ने 'उर्वशी' लिखी और पंतजीने 'लोकायतन' तो यह ज़रूरी नहीं कि मैं भी एक महाकाव्य लिखूँ। प्रतिभा का अनुकरण नहीं होता। मेरी ऐसी कोई योजना नहीं। यदा-कदा जो भाव मेरे मन में उठते हैं उनके लिए अभी तो मैं छोटी कविताओं को ही पर्याप्त समझता हूं।"

('धर्मयुग', २६ नवम्बर, १६६४)

एक बिल्कुल अलग ढंग की कविता होकर भी यह बच्चन की कविता के मूल रूप से विमुक्त नहीं है। एक गीतकार कवि का 'मैं' इतनी आसानी से गुम नहीं होता। प्रस्तावना लम्बी है और इसमें बच्चन के कवि के अपने अन्दाज़ को फिर-फिर देखा जा सकता है।

दूर ही वे
परम पुरुषोत्तम चरण हैं,
दूर ही दुर्भेद्य वे सप्तावरण हैं
दूर ही वे
गगन के अगणित सितारे झिलमिलाते

(पृ० १६६)

ये सारी बातें कवि कहना चाहता है लेकिन फिर उसे स्मरण हो आता है कि उसकी अब तक की काव्य-यात्रा तो भिन्न ढंग की रही है। इसलिए वह अपने वैचारिक विकास को इस प्रस्तावना में स्पष्ट कर देता है। बच्चन ने एक जगह कहा है—"कवि वह है जो अपनी कविता के द्वारा अपना विकास कर सकता है।"[1] सचमुच बच्चन ने अपनी कविता के द्वारा अपना विकास किया है। प्रस्तावना में इस विकास-पथ का संक्षिप्त उल्लेख करना वह नहीं भूलता। वह बताता है कि किस प्रकार वह मधु-काव्य से चलकर यहाँ तक आया है। वह स्पष्ट कहता है—

बावला अब नहीं,
जो कहने चला हूँ
वह कहानी भी नहीं है बावलों की,
और सुनकर बावला बनना नहीं है।
सोचना है, ग़ौर करना है,–
युग-मनस ठहरे जहाँ पर
ठौर और प्रतीक वह मालूम करना है।

(पृ० १६६)

बच्चन को इस कविता की प्रस्तावना में यह सब इसलिए कहना और बताना पड़ रहा है कि वे हिन्दी के एकमात्र ऐसे कवि हैं जिनका अपना पाठक समुदाय है और जिसको लेकर वे बराबर चलते रहे हैं। बच्चन की कविता-पुस्तकों की भूमिकाओं के शीर्षक को ध्यान में रखकर एक बार मेरे एक मित्र

१. आधुनिक कवि बच्चन, पृ० ८

ने व्यंग्यात्मक ढंग से पूछा था—बच्चनजी बराबर भूमिका का शीर्षक 'अपने पाठकों से' ही क्यों देते हैं ? क्या और किसीके पाठक ही नहीं हैं ? पाठक सबके हैं लेकिन पाठकों के साथ बच्चनजी का जैसा सरोकार है वैसा सम्भव है और सबका न हो।

बच्चन अपने पाठकों की सीमाएँ जानते हैं। प्रस्तुत कविता में वस्तु नियोजन और शिल्प की दृष्टि से वे जो छलाँग लगाते हैं सम्भव है वह उनके पाठकों को ठीक-ठीक न जँच सके इसलिए यह प्रस्तावना ज़रूरी है। बच्चन इस प्रस्तावना में अपने मूल रूप में दृष्टिगत होते हैं अर्थात् यह कविता बदली हुई होकर भी बहुत बदली नहीं है। इसे आप इसका दोष कहें या गुण।

इस प्रस्तावना का समसामयिक जीवन और साहित्य की समस्याओं की दृष्टि से भी बहुत महत्त्व है। इसमें स्थान-स्थान पर युग-यथार्थ की झाँकी तो मिलती ही है, कवि के नवीन उपक्रम और उसकी कला और साहित्य-संबंधी कुछ धारणाओं की विवृति भी होती है। उदाहरण के लिए कुछ पंक्तियाँ ली जा सकती हैं—

(१) सत्य कितना ही बड़ा हो,
और कितना ही बड़ा क्यों दे न उसको,
अर्थ उसका सिर्फ़
वक्ता और श्रोता का समन्वय स्पष्ट करता।

(२) युग-समस्या का तुम्हें हल दे सकूँगा,
यदि कहूँ तो दम्भ होगा।
दम्भ सिर धर
कला चल सकती न पग भर।

(पृ० १७१)

(३) आज मानव-मनस्
इतना खिन्न, खंडित, विशृंखल है
बाँध यदि उसको सकूँ कुछ देर को मैं
किसी थिर, संतुलित, निष्ठायुत समर्पित एक से तो
मनुजता की कम नहीं सेवा करूँगा।

(४) कला मानव-हित समर्पित,
कला मानव-हित सुसज्जित।

(पृ० १७२)

आठ पृष्ठों की यह प्रस्तावना अपने आप में एक अलग इकाई है और ठीक

उसी ईकाई की भाँति है जो प्रबंध कविता में प्रारम्भ में प्रयुक्त होती है। इसके बाद ही कविता हेडीज की घाटी के वर्णन से शुरू होती है।

कविता के निर्वाह में कवि की संतुलित दृष्टि के दर्शन होते हैं। यहाँ कवि का आनुपातिक बोध (Sense of proportion) और पूर्वापर संबंध निर्वाह की क्षमता स्पष्ट हुई है। हेडीज की घाटी का वर्णन करके वह ऐटलस और प्रोमीथियस का वर्णन और उल्लेख करते हुए सिसिफ़स तक आता है। वर्णन का यह क्रम और ढंग स्वाभाविक है। सिसिफ़स की दंड-गाथा का स्मरण आते ही ऐटलस और प्रोमीथियस का स्मरण हो आना स्वाभाविक है। ऐटलस और प्रोमीथियस के संक्षिप्त उल्लेख के बाद वह मूल विषय पर आ जाता है। मूल विषय पर आकर भी वह निर्वाह के औचित्य की रक्षा करता है। इसीलिए वह सिसिफ़स का संक्षिप्त वर्णन करके कथा में फिर एक मोड़ लाता है अर्थात् वर्णन को सीधे-सीदे ढंग से आगे न बढ़ाकर आड़े-तिरछे, आगे-पीछे ले चलता है। इससे कथा में रोचकता की सृष्टि होती है और एकरसता भंग होती है। सिसिफ़स का संक्षिप्त वर्णन करके वह उसके पिता का प्रसंग उठा लेता है। उसके पिता का वायु पर किस प्रकार अधिकार था, किस प्रकार उनकी मृत्यु के बाद वायु ने क्रोध प्रदर्शित कर एलोसिया द्वीप का विनाश किया और किस प्रकार उस विनाश को झेलता हुआ सिसिफ़स मृत्यु के संबंध में चिन्ता करने लगा, इन सबका अच्छा वर्णन हुआ है। इस वर्णन-क्रम में कवि इस बात को नहीं भूला है कि प्रासंगिक पर मर्मस्पर्शी भावों की विशद अभिव्यक्ति होनी चाहिए। इसीलिए मरण का प्रसंग आते ही वह वर्णनात्मकता की दृष्टि से एक क्षण के लिए विलम गया है और मरण की विशेषताएँ बताने लगा है—

> है नहीं कोई समय
> उसके न आने का समय हो
> उज्र कोई भी नहीं है मान्य उसको,
> किसी की सुविधा-असुविधा,
> समय-असमय
> घड़ी-कुघड़ी का
> कभी होता नहीं है ध्यान उसको।
>
> (पृ० १८१)

इस प्रकार स्पष्ट है कि कवि ने वर्णन को चलता कर देने की चेष्टा नहीं की है। मरण की भाँति ही उसने युवा सिसिफ़स के वर्णन-प्रसंग में, यौवन का इस प्रकार का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है—

और यौवन शक्तिशाली
एक जादूगर बड़ा है।
रूप तो रहता वही है,
किन्तु उस पर नयन यौवन के
नये ही रंग-आभा का
रहस आरोप करते।

(पृ० १८२)

वर्णनात्मक कविता में जिन चरित्रों का अवतरण कराया जाता है उनका विकास ज़रूरी होता है। कवि इस बात को नहीं भूला है। इसलिए उसने सिसिफ़स और हनुमान दोनों के चरित्र-विकास का पूरा ध्यान रखा है। पिता की मृत्यु के बाद द्वीप के विनाश से सिसिफ़स किस प्रकार चिन्ता-कातर होता है और फिर किस प्रकार धीरे-धीरे बड़ा होता है, विवाह करता है, ईफाइरा नगर बसाता है, यह सब दिखाने के बाद कवि ने सिसिफ़स के उस भावनात्मक व्यक्तित्व के विकास पर भी ध्यान दिया है। सिसिफ़स पिता की मृत्यु-घटना को अब तक नहीं भूला है और इस आशंका से कि एक दिन उसे भी मरना पड़ेगा और प्रिया और राज्य-पाट छोड़ना पड़ेगा ऐसी चिन्ता और योजना में लीन है कि जैसे भी हो मृत्यु को छल से या बल से बन्दी कर लिया जाय। कविता के सम्पूर्ण रूप और प्रभाव को देखते हुए सिसिफ़स के इस रूप का उभारना कवि का प्रधान उद्देश्य है। लेकिन इस रूप तक वह एकाएक नहीं आ सकता है। इसलिए उसे सिसिफ़स के पूर्व रूपों का एक सोपान प्रस्तुत करना है। ऐसा करके उसने न केवल अपनी निर्वाहक्षमता का वरन् सूझ-बूझ का भी परिचय दिया है। मृत्यु को बंदी बनाने के क्रम में कितने संकल्प-विकल्प सिसिफ़स के मन में उठे कवि ने इसका लेखा-जोखा ज़रूरी समझा है। वास्तव में वायु को बंदी बनाना कोई सामान्य कार्य नहीं था जो सिसिफ़स करना चाहता था। यह सृष्टि के क्रम को स्थगित कर देना था। और सृष्टि के कामों में टाँग अड़ाने से क्या होता है यह सिसिफ़स अपने पिता के अनुभव से सीख चुका था। लेकिन फिर भी उसका संस्कार उसे धकेलकर उसी दुस्साहसपूर्ण मार्ग पर ले जा रहा था जिसपर कभी उसके पिता चले थे। इन सभी विवरणों से कवि की निर्वाहक्षमता स्पष्ट होती है।

मृत्यु को बंदी कर लेने के बाद संसार की क्या दशा हुई, सृष्टि में क्या-क्या उत्पात हुए, इसका ब्योरेवार वर्णन है। मृत्यु के न होने से मनुष्य किस प्रकार त्राहि-त्राहि करने लगे और फिर किस प्रकार एरीज़ ने आकर मृत्यु को सिसिफ़स

की कैद से मुक्त किया, और मुक्त होने के तत्काल बाद ही सिसिफ़स किस प्रकार यमराज की गिरफ्त में आया और उसके गुरुतर अपराध को ध्यान में रखकर प्लूटो और उसके त्रिगुण निर्णायकों की सभा जुड़ी और अच्युत दंड देने का निर्णय किया गया, इन सबका व्योरेवार वर्णन है। और जब दंड-घोषणा हुई तो सिसिफ़स के मुख से जो चीख निकली वह कितनी कारुणिक थी ? इसका वर्णन इस प्रकार हुआ है—

> आज भी उस चीख की जब याद करता
> गगन लगता थरथराता,
> धरा लगती कँपकँपाती।
> करबरस की आँख से भी
> उस दिवस छह बूंद आँसू की गिरी थीं।
>
> (पृ० १६१)

वर्णन की दृष्टि से इस कविता में सबसे सुन्दर वह अंश है जहाँ सिसिफ़स को दंड भोगते दिखाया गया है। ऐसा पूरा, प्रभावशाली और गतिशील चित्रण बहुत कम कवियों के वश की बात होती है। यहाँ एकदम सरल से सरल शब्दों से काम लेते हुए बच्चन ने वर्णन को जो पूर्णता और प्रभाव दिया है उससे उनका भाषा और वर्णन पर अधिकार सूचित होता है। यहाँ वर्णन-क्रम में कवि के शब्द इतने फुर्तीले हो उठे हैं कि तुरत कवि के आदेशों पर यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ नाचते से दिखाई देते हैं। साधारण शब्दों को इस प्रकार नचाना और उनसे अपना काम निकालना उसी कवि के वश की बात है जिसका शब्दों पर अकूत अधिकार हो। श्रम करते हुए सिसिफ़स को वर्णित करने में कवि ने जो शैली अपनाई है वह श्रम गीतों की गतिशील शैली का स्मरण दिलाती है।

दंड भोगते हुए सिसिफ़स अपने विविध रूपों और विस्तृत आयामों में चित्रित हुआ है। पहले तो उसका वह रूप सामने आता है जब वह दंड को अत्यन्त कठिन पाकर बल-ज़ोर लगाता हुआ संगमर्मरी चट्टान ठेलता है, पर्वत के ऊपर ले जाता है और नीचे गिराता है। इसके बाद उसका वह रूप भी चिचित्र हुआ है जबकि वह युगों के अभ्यास से इस कार्य का इतना अभ्यस्त हो गया है कि स्फटिक गोलक को हाथ में इस तरह से ले लेता है जैसे कोई सरकस का खिलाड़ी गेंद उठा लेता हो। इसके साथ ही इस क्रिया की यांत्रिकता का सिसिफ़स के मन पर जो प्रभाव पड़ा है उसका उल्लेख करना भी कवि नहीं भूला है। कथा का पूर्वार्द्ध यहीं पूरा होता है और इसके बाद कवि एक उपसंहार जोड़ता है जिसमें वह कविता की प्रतीकात्मकता स्पष्ट करता लेकिन है।

यही इस कविता का सबसे कमज़ोर स्थल है। सिसिफ़स को प्रतीक मानकर कवि क्या कहना चाहता है और उसका भारतीय समाज की परिस्थितियों के प्रसंग में क्या महत्त्व और उपयोगिता है, यह बात बहुत स्पष्ट नहीं हो पाती। वास्तव में प्रतीक की प्रतीकात्मकता को स्पष्ट और समयोपयोगी सिद्ध करने के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है—प्रतीक की अनुकूलता और स्पष्ट प्रभविष्णु व्याख्या। इन दोनों ही दृष्टियों से कविता का यह अंश दुर्बल है। सिसिफ़स हमारा जातीय प्रतीक नहीं है। उससे हमारा घनिष्ठ परिचय भी नहीं है। इसलिए उसको प्रतीक बनाकर कवि जो कुछ स्पष्ट करना चाहता है वह बहुत स्पष्ट नहीं होता।

कविता का उत्तरार्द्ध हनुमान विषयक है। जिस प्रकार पूर्वार्द्ध का प्रारम्भ हेडीज़ की घाटी के वर्णन से होता है उसी प्रकार उत्तरार्द्ध का प्रारम्भ गंधमादन पर्वत के वर्णन से होता है। पूर्वार्द्ध में कविता की प्रतीकात्मकता जितनी ही अस्पष्ट है, बावजूद कवि के सचेष्ट अभ्यास के, उत्तरार्द्ध में वह उतनी ही सहजता से स्पष्ट हुई है। पूर्वार्द्ध में आशय को स्पष्ट करने के लिए कवि को स्पष्टतः उपसंहार लिखना पड़ता है। वहाँ वर्णन-क्रम में प्रतीकात्मकता को स्पष्ट कर पाने का कवि को कोई अवसर नहीं मिल पाया है। इसलिए यह कहना सही है कि वहाँ प्रतीकार्थ कविता में इस प्रकार व्याप्त नहीं है जैसे बादलों में पानी की बूँदें रहती हैं। वास्तव में प्रतीकार्थ का नियोजन रचना में इसी भाँति होना चाहिए। वर्णनात्मक कविता लिखकर और फिर एक टिप्पणी के सहारे प्रतीकार्थ स्पष्ट करना औसत कवियों का काम होता है। कविता के पूर्वार्द्ध में प्रतीकार्थ जिस प्रकार व्यक्त हुए हैं उत्तरार्द्ध में ठीक उसकी विपरीत रीति से स्पष्ट हुए हैं। इस प्रकार पूर्वार्द्ध की कोर-कसर यहाँ पूरी हो गई है। इसीलिए कवि जहाँ हनुमान का यह रूप अंकित करते हैं—

> एक रूप से
> एक हाथ में वज्र गदा धर,
> मृत्युदायिनी,
> मूल-सजीवन-धारी द्रोणाचल
> धर अपने एक हाथ पर
> वज्र देह भूधराकार संतुलित बनाकर—
> लांगूल रख वात-अनाहत दीप-शिखा सम
> समाधिस्थ, योगस्थ खड़े हैं—

(पृ० २०३)

वहाँ वे यह कहना नहीं भूलते कि—

> भोगे दंड,
> साधना चाहे साधे
> एकाकी, तो
> क्या समष्टि के मतलब का है ?

(पृ० २०३)

इससे कविता का प्रतीकार्थ एकदम स्पष्ट हो जाता है। यदि वर्णन और प्रतीकार्थ को स्पष्ट करने की चेष्टा का ऐसा निर्वाह पूर्वार्द्ध में भी किया जा सकता तो कविता अधिक बोधगम्य और सफल होती। इससे कविता में वर्णनार्थ और प्रतीकार्थ समानान्तरता का एक चमत्कार भी आ जाता और कविता समानान्तर गति से दुहरे स्तरों पर चलती। लेकिन वैसा न होने पर भी कविता के सौन्दर्य की बहुत अधिक क्षति हुई मैं ऐसा नहीं मानता। उत्तरार्द्ध पढ़ने से ढँके-मुँदे प्रतीकार्थ आपसे आप उघरने लगते हैं। जब हनुमान राम से यह वर माँगते हैं कि जब तक लोक में आपकी कथा रहे मैं इसी तरह जिऊँ और राम 'तथास्तु' कहकर उनको वर देते हैं तो कवि का यह कहना—

> एक तरह से अंजनि-सुत ने
> अमर बने रहने का ही तो वर माँगा था,
> क्योंकि स्पष्ट था उनके मन में
> सीयराम की कथा अमर है
> और उसे सुनने की उनकी तृषा अमर है।

(पृ० २०५)

तो प्रतीकार्थ एकदम स्पष्ट हो जाता है। यहाँ अनायास सिसिफ़स और हनुमान के चरित्र और दृष्टिकोण की तुलना भी हो जाती है और तुलना से प्रतीकार्थ और स्पष्ट होता है। यहाँ सिसिफ़स के सारे प्रयत्नों की व्यर्थता स्पष्ट हो जाती है। अमर सिसिफ़स ने भी होना चाहा था। लेकिन उसने कितना खतरनाक तरीका अपनाया और इसके लिए उसे कैसा दंड मिला।

उत्तरार्द्ध में प्रतीकार्थ स्पष्ट करने की एक दूसरी प्रणाली भी अपनाई गई है। इसे हम खंड वर्णन और प्रतीकार्थ निरूपण की प्रणाली भी कह सकते हैं। इस प्रणाली की उपयोगिता यह है कि वर्णन के साथ-साथ प्रतीकार्थ स्पष्ट होता चलता है। उदाहरण के लिए हनुमान के लिए कहा गया है—

> हनूमान में
> इच्छाबल साकार हुआ था;

जिसकी भी वे इच्छा करते
हो सकते थे, कर सकते थे,

(पृ० २१३)

लेकिन ऐसा होने पर भी उनकी इच्छा सिसिफ़स जैसी नहीं थी। उनके बारे में कहा गया है—

अब उनकी इच्छा उनके प्रभु की इच्छा थी—
सदा, सब जगह और सभी के हित की इच्छा—
उनकी शक्ति नियोजित थी अब राम-काज में।

इसके बाद ही कवि अपना आशय इस प्रकार स्पष्ट करता है—

अपने युग में छलना-मोहित
इच्छा बल का दुरुपयोग—
हमने कम देखा ?
काश उसे संयत कर सकती
सत्य-स्वरूपा
रामेच्छा की लक्ष्मण-रेखा।

(पृ० २१३)

ठीक इसी प्रकार जब हनुमान अक्षय कुमार सहित बहुत-से राक्षसों को मारकर लंका जला देते हैं और सेवक रीति का यथायोग्य निर्वाह कर राम के पास पहुँचते हैं तो—

धन्यवाद जब दिया राम ने,
व्याकुल होकर,
चरण पकड़कर
बोले केवल—'हे प्रभु त्राहि···इ ! हे प्रभु पाहि···इ ! !'

(पृ० २१४)

इसपर कवि की टिप्पणी है—

अपने युग में
अहं जगा, फूला, फैला
हमने कम देखा ?
काश उसे संयत कर सकती
हनूमान के आत्म दमन की
लक्ष्मण रेखा।

(पृ० २१४)

इस प्रकार उत्तरार्द्ध में कवि ने प्रतीकार्थ को अच्छी तरह स्पष्ट कर दिया है। अब यहाँ पर पहुँचकर पूर्वार्द्ध के प्रतीकार्थ भी धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगते हैं। यहाँ आकर कविता जातीय बोध से सम्पृक्त हो जाती है। यहाँ सिसिफ़स जैसे यूनानी प्रतीक और हनुमान जैसे भारतीय प्रतीक का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है[१] और हमारे सामने यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कौन प्रतीक हमारे जीवन को दिशा देनेवाला है।

दंड सिसिफ़स भी भोगता है और एक तरह से हनुमान भी। लेकिन एक का दंड बाध्यता के कारण है जबकि दूसरे ने दंड स्वेच्छया स्वीकार किया है। हनुमान 'सब लोकहित जीवनदानी, जयदानी और अभयप्रदानी' बने हैं और लोक के लाभार्थ ही तब से एक हाथ पर सजीवन पर्वत धारण किये हुए हैं। यहाँ हनुमान के प्रसंग में कामू की यह उक्ति कि Sisyphus is the absurd hero पूर्णतया चरितार्थ है। लेकिन सिसिफ़स की व्यर्थता को यूरोप में उसके स्वरूप की एकांतिकता के कारण समझा गया जबकि वह हम भारतीयों के लिए व्यर्थ इसलिए है कि यहाँ उसकी तुलना में हनुमान जैसे प्रतीक चरित्र हैं।

इस कविता को पढ़ते हुए अक्सर एक प्रश्न बार-बार मन में उठता है। यदि इसे कोई अत्याधुनिक कवि लिखता तो किस प्रकार लिखता? वह निश्चय ही हनुमान को सिसिफ़स के प्रसंग में लाने की बात नहीं सोचता। वह मात्र सिसिफ़स की कथा कहकर रह जाता। इस प्रकार यह कविता मानवीय प्रयत्नों की व्यर्थता और एक दारुण यंत्रणा की कविता होती। तब शायद इसमें इतना दर्द, इतनी पीड़ा समाविष्ट हो सकती थी कि इसे पढ़कर हम भी एक अनियंत्रित यंत्रणा का अनुभव करते। इस रूप में इस चरित्र में आधुनिक जीवन की व्यथा और व्यर्थता को व्यक्त करने का बहुत अवकाश है। जिस प्रकार इलियट ने वेस्ट लैंड में क्षयी सभ्यता और संस्कृति की एक करुण गाथा अंकित

१. सिसिफ़स और हनुमान में बहुत अधिक अंतर है जिसका इस कविता में उल्लेख नहीं है। श्रीमती विजय चौहान ने लिखा है—"सिसिफ़स का सिम्बल हिन्दी साहित्य में भी फ़ैशनेबल बन गया है और नियति के रूप में ओढ़ा गया है—लेकिन यह ज़िक्र कहीं नहीं किया जाता कि सिसिफ़स अव्वल दर्जे का मक्कार था—ओतोसिकस की बेटी से बलात्कार करने के बाद उसने अपनी भतीजी तापरो से बलात्कार किया और सरे आम तापरो के पिता पर बलात्कार का लांछन लगाया। ज़ीयस के साथ गद्दारी करने के अपराध में उसके गले में भारी पत्थर डाल कर उसे हुक्म दिया गया कि वह उस पत्थर को पहाड़ की चोटी तक पहुँचाये। चोटी पर पहुँचने के बाद पत्थर फिर नीचे लुढ़क आता है क्योंकि वह सिसिफ़स के गुनाहों की तरह भारी है।" (नई कहानियाँ, दिसम्बर, १९६६) इससे स्पष्ट है कि सिसिफ़स और हनुमान में बहुत अंतर है। लेकिन अंतर को इतनी दूर तक उभारना कवि का लक्ष्य नहीं है।

की है उसी प्रकार सिसिफ़स को प्रतीक चरित्र बनाकर मानवीय नियति की विडम्बना और षडयंत्र की एक त्रासदी अंकित की जा सकती थी। और इस रूप में यह एक अत्याधुनिक कृति हो सकती थी। लेकिन तब इस कृति में जातीय संस्पर्श न पाया जा सकता। यह संस्पर्श कोई अपेक्षाकृत पुराना कवि ही दे सकता था जो यथार्थ के तमाम कशमकशों के बीच भी अभी प्राचीन संस्कारों से एकदम विच्छिन्न नहीं हो सका है। बच्चन इस कविता में इसी रूप में सामने आते हैं। इस कविता से बच्चन की सीमा और शक्ति दोनों स्पष्ट हैं लेकिन यहाँ उनकी सीमा को भी एक अर्थ और औचित्य मिल गया है, यही इसकी सार्थकता है।

बच्चन कृत काव्यानुवाद

बच्चन के परवर्ती काव्य पर विचार करने के क्रम में उनके काव्यानुवादों की चर्चा करना समीचीन है। अनुवाद आम तौर पर बहुत ऊपरी चीज़ समझे जाते हैं और कवि के सृजनात्मक व्यक्तित्व से उनका सरोकार नहीं माना जाता। इसे कुछ लोग 'बैठे ढाले का रोज़गार' समझ लेते हैं। इस प्रकार यह सृजन के अन्तर्गत परिगणित न होकर एक उपयोगी कार्य-भर मान लिया जाता है। लेकिन यह दृष्टिकोण उचित नहीं है। अनुवाद भी दो प्रकार के हो सकते हैं—ललित और उपयोगी। सृजनात्मक कृतित्व का अनुवाद अनिवार्य रूप से ललित अनुवाद की श्रेणी में परिगणित होना चाहिये। उपयोगी अनुवाद शास्त्रों और विधाओं के अनुवाद कहे जा सकते हैं। इसलिए शास्त्रों और विधाओं के अनुवाद जहाँ मात्र अनुवाद कहे जाते हैं वहाँ सृजनात्मक कृतित्व का अनुवाद अनुवाद कला के अन्तर्गत माना जायगा। अनुवाद को कला के स्तर पर प्रतिष्ठित करना सब अनुवादकों के वश की बात नहीं है। इसे प्रतिभावान रचनाकार ही—और उसमें भी विरले ही—सम्पन्न कर सकता है। ऐसे अनुवाद कवि के मौलिक सृजन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं होते। कभी-कभी तो ऐसा भी होता है कि इस क्षेत्र में किया गया कार्य ही लेखक या कवि को अमर कर देता है। उदाहरण के लिए फिट्ज़राल्ड के उमरखय्याम के अनुवाद लिए जा सकते हैं। क्या यह मात्र अनुवाद है? पालग्रेव ने गोल्डन ट्रेज़ेरी में फिट्ज़राल्ड के अनुवादों को स्थान देकर उसपर मौलिक सृजन की मुहर लगा दी है।

अनुवाद सोद्देश्य और निरुद्देश्य दोनों ही दृष्टियों से किये जा सकते हैं। सोद्देश्य अनुवादों के पीछे एक विशेष दृष्टिकोण कार्य करता है। यदि दिनकरजी के शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि "किसी एक पूरे काव्य का अनुवाद इस दृष्टि से सोद्देश्य समझा जा सकता है कि उसका लक्ष्य एक भाषा के ग्रंथ को किसी दूसरी भाषा में उपलब्ध बनाना है। यह तर्क वहाँ भी लागू हो सकता है जहाँ अनुवादक ने अपनी रुचि के अनेक कवियों की थोड़ी-थोड़ी पंक्तियों का अनुवाद बानगी के तौर पर दूसरी भाषा में उपलब्ध कर दिया

हो।"[1] निरुद्देश्य अनुवाद इससे भिन्न प्रकार के होंगे। उसके पीछे कवि या रचनाकार का कोई सचेष्ट प्रयास लक्षित नहीं होता। स्वाध्याय-क्रम में जब जो चीजें अच्छी लगीं, मौज में आकर उनका अनुवाद कर लेना निरुद्देश्य अनुवाद कहा जायगा। पाठक की दृष्टि से महत्त्व दोनों का है, एक का अपेक्षाकृत अधिक और दूसरे का कम। लेकिन निरुद्देश्य अनुवाद कभी-कभी सोद्देश्य अनुवाद से अधिक मनोरम होते हैं क्योंकि अभिवृत्ति (मूड) की अनुकूलता के कारण वे अधिक हृदयग्राही होते हैं।

पाठकों की दृष्टि से अनुवाद की विशेषताओं और उपयोगिताओं पर विचार करने से स्पष्ट होगा कि अनुवाद सामान्यतः चार वर्ग के पाठकों के लिए किये जाते हैं। दिनकरजी ने उनका हवाला इस प्रकार दिया है—(१) वह व्यक्ति जो मूल की भाषा नहीं जानता और न आगे उसे सीखने का प्रयास करेगा। स्पष्ट ही यह पाठक उतने से ही संतोष कर लेगा जो अनुवाद में उपलब्ध बना दिया गया हो (२) वह व्यक्ति जो मूल की भाषा सीख रहा है और अनुवाद से सहायता लेना चाहता है। (३) वह व्यक्ति जो मूल की भाषा जानता था किन्तु अब उसे भूल गया है। (४) और वह व्यक्ति जो दोनों भाषाओं में दक्ष है। अनुवादों पर इन चार व्यक्तियों की प्रतिक्रिया परस्पर भिन्न होती है। पहला कहता है इस लेखक का बड़ा नाम सुना है देखें तो चीज़ कैसी है। दूसरा कहता है चलो अच्छा है इससे मुझे मूल के समझने में सहायता मिलेगी। तीसरे की प्रतिक्रिया होगी यह तो वही लेखक है देखें अनुवाद में कैसा उतरा है। और चौथे की प्रतिक्रिया सर्वत्र एक समान व्यंग्यात्मक और कठोर होगी। अनुवाद में परिश्रम चाहे जितना भी किया गया हो उच्च भाषाओं का पंडित यही बोलेगा देखें कितना चौपट किया है।[2]

अनुवाद के वस्तु और शिल्प पक्ष से संबंधित और भी कितनी ही बातें हैं जो विद्वानों द्वारा समय-समय पर उठाई जाती रही हैं। कुछ लोग अक्षरशः अनुवाद को आदर्श अनुवाद की संज्ञा देते हैं और कुछ लोग भावानुवाद और छायानुवाद को। इस मामले में भी गद्य और पद्य के कारण अन्तर किया जाता है। डा० कैलाश वाजपेयी ने एक जगह लिखा है—"कविता में तो भावार्थ तक पहुँचने के लिए अनुवादक थोड़ी-बहुत सर्जनात्मक स्वतंत्रता भी ले सकता है जबकि गद्य में उसे पूर्णरूप से मौलिक कृति के अधीन रहना होता है।"[3] शैली

१. हिन्दी वार्षिकी १९६०, सम्पादक डा० नगेन्द्र, पृ० ६८
२. वही, पृ० ६९
३. हिन्दी वार्षिकी १९६१, पृ० १५२

पक्ष से संबंधित बातों में छन्द, लय, भाषा और मुहावरों आदि की बात आती है और प्रश्न किया जाता है कि अनुवाद को मूल का समकालीन दिखना चाहिये या अनुवादक का ?[१]

यहाँ अनुवाद-सम्बन्धी कुछ सामान्य बातों का उल्लेख इसलिए किया गया कि इसके आधार पर बच्चन के काव्यानुवादों की विशेषताएँ परखी जा सकें। बच्चन के काव्यानुवाद—विशेष रूप से परवर्ती काव्यानुवाद—अनुवाद-कला की कसौटी पर खरे उतरते हैं। उन्होंने अनुवाद-कार्य पहले भी किए हैं, विशेषकर शेक्सपीयर के दो नाटकों 'मैकबेथ' और 'ओथेलो' के अनुवाद। उन अनुवादों के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। यद्यपि यह सही है कि हिन्दी में अब तक शेक्सपीयर के जो अनुवाद हुए हैं उनमें काव्यात्मक अनुवाद बच्चन के ही हैं, तथापि उनकी भाषा को लेकर लोगों को शिकायतें हैं। यद्यपि बलराज साहनी और उनकी पत्नी सन्तोष साहनी के अनुसार बच्चनजी की कविताओं में जो सरल सचित्र बोलती हुई भाषा है वह नाटक के अनुवाद के लिए बहुत उपयुक्त है[२] तथापि यह तो मानना ही होगा कि शेक्सपीयर की भाषा जैसी भाषा बच्चन अनुवाद में नहीं दे सके हैं। लेकिन परवर्ती अनुवादों में यह कठिनाई नहीं रही है। इसका कारण शायद यह है कि परवर्ती काव्यानुवाद बहुत कुछ समकालीन साहित्य के अनुवाद हैं। चौंसठ रूसी कविताओं में अधिकांश कवि ऐसे हैं जो आधुनिक युग के कवि हैं और डब्लू० बी० ईट्स भी आधुनिक युग के कवियों में से हैं।

अनुवाद-कार्य जब निष्ठापूर्वक, मौलिक सृजन की भाँति, शुरू किये जाते हैं तो वह अनुवाद न रहकर कला के स्तर पर सम्पन्न होता है। ऐसा होने से अनुवादक की कठिनाई बहुत हद तक दूर हो जाती है। बच्चन ने कहा है—"प्रयत्न तो मेरा यही रहा है कि मूल लेखक से तन्मय हो सकूँ—उसकी सृजन मनःस्थिति से।" जब ऐसा होता है तो अनुवाद सहज हो जाता है। बच्चनजी के शब्दों में "शाब्दिक सीमाएँ टूट जाती हैं और अनुवादक स्वतन्त्र सर्जक के अधिकार से काम करने लगता है।"[३] बच्चन के अनुवादक का यह रूप उनके परवर्ती काल में ही देखा जा सकता है।

बच्चनजी के परवर्ती काल के अनुवाद किस कोटि में आयेंगे—सोद्देश्य या निरुद्देश्य ? यह प्रश्न इसलिए उठाया जा रहा है कि—'मैकबेथ' और 'ओथेलो'

१. हिन्दी वार्षिकी १९६०, पृ० ७१

२. मैकबेथ, पृ० १९

३. मरकत द्वीप का स्वर, पृ० १४६

का अनुवाद और 'चौंसठ रूसी कविताओं' और ईट्स की कविताओं के अनुवाद मूलत: भिन्न रीति से सम्पन्न हुए हैं। 'मैकबेथ' और 'ओथेलो' नाटक हैं। जब बच्चन ने इनका अनुवाद प्रारम्भ किया होगा तो इसे पूरा करना ही है, यह सोच लिया होगा। उन्हें अनुवाद-कार्य कठिन प्रतीत होने पर बीच में छोड़ने का अवसर नहीं था। इसलिए वे अनुवाद एकदम सोद्देश्य माने जायेंगे। लेकिन बाद के अनुवाद सोद्देश्य माने जाने पर भी बहुत कुछ निरुद्देश्य ढंग से सम्पादित हुए हैं। ऐसा मानने का कारण यह है कि परवर्ती अनुवाद छोटी-छोटी रचनाओं के अनुवाद हैं। ये रचनाएँ यहाँ-वहाँ से कवि ने अपनी पसन्द से चुनी हैं। इस-लिए उसकी अभिवृति इन कविताओं के अनुवाद में अधिक रमी है। कभी-कभी ऐसा भी होता कि जो काम यों ही निरुद्देश्य प्रसन्नतावश प्रारम्भ कर दिया जाता है कुछ दूर चलकर अपने में सोद्देश्यता समाहित कर लेता है और इस प्रकार कौतुकवश किया गया कार्य योजना के अधीन किया गया कार्य-सा प्रतीत होने लगता है। 'चौंसठ रूसी कविताएँ' और 'मरकत द्वीप का स्वर' ऐसी ही अनुवाद कृतियाँ हैं। 'मरकत द्वीप का स्वर' में बच्चन ने स्वीकार किया है कि ईट्स की कुछ कविताओं का अनुवाद उन्होंने सन् १९५६ में पंतजी के अनुरोध पर रेडियो के लिए किया था। बाद में कुछ अनुवाद '५८-'५९ में हुए। यहाँ तक तो अनुवाद निरुद्देश्य हो रहे थे। लेकिन सन् १९६५ ईट्स का जन्म शताब्दी वर्ष था और इसी वर्ष बच्चनजी का शोध प्रबन्ध W. B. Yeats and Occultism प्रकाशित हो रहा था। इसलिए कवि ने चाहा कि इसी वर्ष ईट्स की कविताओं के अनुवादों का भी एक संकलन प्रकाशित हो। इसलिए बाद की अधिकांश कविताएँ सोद्देश्य ढंग से अनूदित की गईं। वैसे तो अनुवाद मात्र ही सोद्देश्य कहा जा सकता है लेकिन मात्रा-भेद को ध्यान में रखकर ही ऐसा कहा जा रहा है। यही बात चौंसठ रूसी कविताओं के संबंध में भी सही है, नहीं तो सन् १९४३ में शुरू किया गया कार्य सन् '६३ में पूरा नहीं होता। सोद्देश्य अनुवाद एक सीमित अवधि में होते हैं जबकि निरुद्देश्य अनुवाद अधिक स्वतंत्रता-पूर्वक विस्तृत अवधि में किये जाते हैं।

बच्चन के काव्यानुवाद किस प्रकार के पाठकों के लिए हैं और उनकी दृष्टि से इनका क्या महत्त्व है इसपर विचार कर लेना जरूरी है। जहाँ तक 'चौंसठ रूसी कविताएँ' का संबंध है वह प्रथम वर्ग के पाठकों के लिए अर्थात् ऐसे पाठकों के लिए है जो रूसी नहीं जानते। वे रूसी आगे चलकर सीख ही लेंगे इसका भी कोई निश्चय नहीं है। वे तो मात्र रूसी कविता का परिचय और रसास्वादन चाहते हैं और वह भी राष्ट्रभाषा के माध्यम से। आगे चलकर

ऐसा हो सकता है कि भारत में रूसी का अत्यधिक प्रचार-प्रसार हो और ऐसे लोग भी निकल आयें जो इन कविताओं के आधार पर रूसी कविता को समझने की चेष्टा करें। तब सम्भव है ऐसे पाठक भी तैयार हो जायँ जो मूल रूसी कविताओं से इनका मिलान करें और सफलता और असफलता का निर्णय दें।

ईट्स की कविताओं के अनुवाद भी मुख्यत: प्रथम कोटि के पाठकों के लिए ही प्रस्तुत किये गये हैं। द्वितीय कोटि के कुछ ऐसे पाठक हो सकते हैं जो कालेजों और यूनिवर्सिटियों में पढ़ते हों और उनके पाठ्यक्रम में ईट्स की इनमें से कुछ कविताएँ हों। वे उन्हें समझने के लिए बच्चन के अनुवाद का सहारा ले सकते हैं। लेकिन ऐसे पाठकों की संख्या थोड़ी होगी और वे भी उन्हें कविता के आनन्द के लिए नहीं पढ़ेंगे, पढ़ेंगे अपने काम की गरज़ से। इसलिए इसको पढ़नेवाले पाठक भी प्रथम वर्ग के ही होंगे। चतुर्थ वर्ग के पाठक अर्थात् पंडित पाठक जो मूल में ईट्स को पढ़ते हैं इन्हें पढ़ने के लिए नहीं, महज़ देखने या जाँचने के लिए पढ़ेंगे। यदि उन्हें अनुवाद अच्छा लगेगा तो फिर वे ईट्स को छोड़कर इसे ही पढ़ने लग जायेंगे। लेकिन ऐसे लोग कम होंगे। जो होंगे वे ईट्स को ठीक-ठीक नहीं समझते होंगे यह भी कहा जा सकता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि बच्चनजी ने अनुवाद मुख्यतः हिन्दी पाठकों को ध्यान में रखकर किये हैं शायद इसीलिए अनुवाद के साथ उन्होंने मूल नहीं दिया है, जैसा कि उन्होंने 'खैयाम की मधुशाला' में किया है, मात्र मूल का संकेत दिया है।

अनुवाद-कला प्रतिभा, परिश्रम और निरन्तर अभ्यास से निखरती है। यह निखार बच्चन के परवर्ती अनुवादों में स्पष्ट लक्षित है। बच्चन बहुत पुराने अनुवादक हैं। उन्होंने अपना केरियर ही अनुवादों से शुरू किया। और अनुवाद भी उन्होंने ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे के नहीं किये हैं। उन्होंने एक जगह अपने बारे में कहा है—"रुचि ही कुछ ऐसी मिली है कि मन ज़मीन से उठता है तो आसमान पर ही टिकता है।"[१] यह बात अनुवाद के लिए लेखक और कृति-चयन में भी लागू होती है। उन्होंने अनुवाद शुरू किया तो उमर खैयाम और शेक्सपीयर का। इस प्रकार अनुवाद क्षेत्र में अपनी शक्ति और प्रतिभा की परीक्षा वे पहले ही दे चुके थे। ऐसे अनुवादक के लिए रूसी कविताओं या ईट्स की कविताओं का अनुवाद कोई कठिन कार्य नहीं था। अब तक उनको अनुवाद-कार्य का पर्याप्त अभ्यास हो चुका था और लेखकीय अनुभव से उनकी भाषा-शैली भी

१. मैकबेथ, पृ० १९

अधिक प्रौढ़ और परिमार्जित हो चुकी थी। और सबसे बढ़कर यह कि अपने शोध-कार्य के सिलसिले में वर्षों विदेश में रहकर उनका अंग्रेज़ी और यूरोपीय मनस और वातावरण से इतना घनिष्ठ परिचय हो गया था कि आधुनिक रूसी कविताओं और ईट्स की कविताओं का वातावरण उनके लिए अनजाना नहीं रह गया था।

(क) चौंसठ रूसी कविताएँ

'चौंसठ रूसी कविताएँ' चौबीस रूसी कवियों की चौंसठ कविताओं का 'बच्चन' कृत हिन्दी अनुवाद है। अनूदित कवियों में सबसे अधिक कविताएँ पुश्किन की हैं। यह स्वाभाविक भी है। पुश्किन रूस का सबसे प्रमुख कवि है। पुश्किन के बारे में बच्चन ने लिखा है—"वे व्यापक अर्थ में रूस के राष्ट्रकवि हैं जैसे इंगलैंड के शेक्सपीयर, इटली के दांते, जर्मनी के गेटे, भारतवर्ष के कालिदास। जो भी रूसी जीवन, विचार, भावना, आकांक्षा, आदर्श एक शब्द में आत्मा के निकट है वह सब पुश्किन में मौजूद है।" (रूसी कविता—एक विहगावलोकन, पृ० २९) बाकी कवियों में किसी की दो, किसी की तीन, किसी की चार और किसी की एक कविता का अनुवाद भी है। प्रारम्भ में 'अपने पाठकों से' कहकर एक भूमिका है। इसमें कवि ने एक जगह लिखा है—"रूसी कविताओं के अंग्रेज़ी रूपान्तर की बात पहले मेरे मन में नहीं उठी। मैं उन्हें केवल पढ़ता था और उनका रस लेता था। तभी कहीं से यह समाचार मिला कि रूस के प्रसिद्ध विद्वान अलेक्सेइ वरान्निकोव ने तुलसीदास के रामचरितमानस का अनुवाद रूसी भाषा में प्रस्तुत कर दिया है। न जाने किन संस्कारों ने मन को सहसा रूसी भाषा के प्रति बाधित कर दिया—ऋणी बना दिया। क्या यह ऋण हिन्दी को किसी अंश में उतारना न चाहिये ? शायद रूसी कविताओं के अनुवाद के लिए प्रयत्नशील होने के पीछे यही प्रेरणा काम कर रही थी।"[1] यह अनुवाद में संलग्न होने का पहला कारण हुआ।

दूसरा कारण इस प्रकार है—अंग्रेज़ी में एक पुस्तक है 'ए बुक आफ़ रशन वर्स।' यह सी० एम० बावरा द्वारा सम्पादित है। सन् १९५२ और '५४ के बीच डा० बच्चन को अपना शोध प्रबंध तैयार करने के सिलसिले में इंगलैंड में रहते हुए ऑक्सफोर्ड जाने का अवसर मिला। उस समय उनको सी० एम० बावरा से मिलने और बातें करने का सुयोग मिला। बावरा ने उनसे कहा—

१. पृ० ११

"युद्ध के समय रूस से इंगलैंड की राजनीतिक मैत्री तो हो गई थी पर साधारण जनता रूस से दूरी का भाव रखती थी अथवा उसके प्रति उदासीन थी। मैंने उन दिनों अपना संकलन इसी ध्येय से तैयार किया था कि आम लोग रूसी काव्य के वैभव से परिचित हों और इस प्रकार रूस के प्रति कोई रागात्मक संबंध बनाएँ। इंगलैंड की जनता केवल सैन्य शक्ति या सफलता से प्रभावित नहीं होती, वह यह भी देखती है कि सबल जाति के पीछे कोई सबल सांस्कृतिक धरातल भी है कि नहीं। अँग्रेज़ जर्मनों से लड़ते थे पर उनका आदर भी करते थे, क्योंकि उनकी जाति कवि, संगीतज्ञों और दार्शनिकों की जाति है। रूसियों के मित्र होने पर भी रूसियों के प्रति कोई आदर का भाव उनमें न था कारण अज्ञानता थी। मेरी पुस्तक ने उसे दूर करने में कुछ योग दिया होगा।"[१] ये बातें बहुत कुछ बच्चन के बारे में भी लागू हो सकती हैं। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद उन्होंने भी देखा होगा कि राजनीतिक स्तर पर भारत और रूस की दोस्ती चल रही है लेकिन भारतीय जनता रूसी कविता के बारे में बहुत कम जानती है। इसलिए उन्होंने रूसी कविताओं का अनुवाद आवश्यक समझा होगा।

अनुवाद-कार्य में संलग्न होने के तीसरे कारण का उल्लेख करते हुए भूमिका में बच्चन ने लिखा है—"अनुवाद-कार्य को शब्द साधना के लिए सुखद अभ्यास के रूप में मैंने बहुत पहले अपना लिया था। फिट्ज़राल्ड के रुबाइयात उमर खैयाम का अनुवाद मैंने १९३३ में किया जो १९३५ में प्रकाशित हुआ और तब से मेरे गद्य-पद्य अनुवादों की एक श्रृंखला है जिससे मेरे पाठक अपरिचित नहीं हैं और जिसकी एक नयी कड़ी के रूप में इन रूसी कविताओं का अनुवाद आज आपके सामने है।"[२]

लेकिन इन सब कारणों के बावजूद एक ऐसा ज़बर्दस्त कारण होना चाहिये जिसके कारण ये अनुवाद हुए होंगे। लगता है वह अनकहा रह गया है। कवि शायद उसको ठीक-ठीक नहीं समझ पाया है। यह सचमुच बहुत आश्चर्य का विषय है कि रूसी कविताओं का भरा-पूरा अनुवाद बच्चन ने किया, किसी प्रगतिवादी साहित्यकार ने नहीं, जबकि अनुवाद-कार्य में धुरंधर ऐसे प्रगतिवादी साहित्यकार हिन्दी में थे। उदाहरण के लिए डा० रांगेय राघव का नाम लिया जा सकता है। एक समय था जबकि हिन्दी कविता में रूस, मास्को, स्टालिनग्राड

१. पृ० १२
२. पृ० १०-११

और साम्यवाद आदि की धूम थी। क्या उसी समय प्रगतिवादियों के द्वारा रूसी कविता का अनुवाद होना सामयिक और प्रासंगिक नहीं था? लेकिन हम जानते हैं कि तब ऐसे अनुवाद नहीं हुए? क्यों नहीं हुए? और यदि नहीं हुए तो यह अनुवाद बच्चन ने क्यों किया? और इतने दिनों के बाद क्यों किया?

वास्तव में रूसी कविता और मार्क्सवाद साहित्यिक प्रगतिवाद का एक अजीब संबंध रहा है। यह संबंध छत्तीस का न होकर तिरेसठ का कहा जा सकता है। रूसी कथा-साहित्य साम्यवादी आन्दोलन के जितने समीप है रूसी कविता उससे उतनी ही दूर है।[१] एकाध कवि को छोड़कर, जैसे मायकोवस्की आदि, बाकी सभी रूसी कवि जनवादी नहीं कहे जा सकते। और मायकोवस्की भी वैसा जनवादी नहीं है जैसा कि कथा-साहित्य सृष्टा मैक्सिम गोर्की माना जाता है।[२] इसका कारण यह है कि कविता की प्रकृति स्वभावतः ही कथा की प्रकृति से भिन्न होती है। इसलिए कथा ने जहाँ साम्यवाद या साहित्यिक प्रगतिवाद को ठीक-ठीक अपना लिया वहाँ कविता उसे उतनी दूर तक, और उतना सही-सही, नहीं अपना सकी। इसलिए जब हिन्दी में प्रगति-

१. इस संबंध में बच्चन ने लिखा है—सहसा परिवर्तित आदर्शों का गायक बनना, बदली हुई राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में अपना स्थान समझना और परम्परा से मिले अथवा बचपन और यौवन में पड़े संस्कारों को मिटा-भुलाकर नयी मानसिक चेतना से सजग होना कवियों के लिए बड़ा कठिन हो गया।

(रूसी कविता—एक विहगावलोकन, पृ० ३५)

२. इस संबंध में बच्चन ने लिखा है—आश्चर्य है कि १९१७ की क्रान्ति का पूर्वाभास रूस के कवियों में नहीं मिलता। साहित्यिक सृजन जिस वर्ग के हाथ में था वह अपनी दबी हुई मनःस्थिति में यूरोप के कला के लिए कला के सिद्धांत की दुहाई देकर अपनी सत्ता बनाये रखने का उपक्रम कर रहा था। फ्रांस के प्रतीकवाद के आधार पर रूस में भी प्रतीकवादियों का एक गुट बन गया। इसका लक्ष्य था काव्य में संक्षिप्तता, सांकेतिकता और ध्वन्यात्मकता लाना। एक गुट अपने को परिपूर्णतावादी कहता था। इनका ध्येय था कविता को निर्दोष त्रुटिविहीन, निखरी, सजी सँवरी बनाकर प्रस्तुत करना। कुछ अपने को भविष्यवादी कहते थे, एक समय पास्तरनाक और मायकोवस्की के नाम इनके साथ संबद्ध थे। नाम और ध्येय की सूक्ष्म विभिन्नताओं के बावजूद क्रान्तिपूर्व के इन सब कवियों का आग्रह कथ्य से अधिक कथन पर था, ये शब्द चातुरी शैली की परिपक्वता और भाव भाषा के रागमय सामंजस्य की ओर अधिक ध्यान देते थे। किसी-किसी में रूस की चिन्तनीय दशा की चेतना भी थी पर निकट भविष्य में आनेवाली क्रान्ति के स्वरूप के प्रत्यक्षीकरण की दिव्य दृष्टि किसी कवि में नहीं थी, क्रांति की तैयारी में अगर कोई सचेत होकर योग दे रहा था तो वह था गद्यकार कथाकार गोर्की।"

(वही, पृ० ३५)

वादी साहित्यकारों का दल बना तो वाद की दृष्टि से उन्हें रूसी कथा-साहित्य जितना प्रेरक और समृद्ध लगा उतनी रूसी कविता नहीं। इसलिए रूस, मास्को और साम्यवाद के भक्त होकर भी उन्होंने समग्रत: रूसी कविता को अपनाने की चेष्टा नहीं की। इसलिए रूसी कविताओं को प्रगतिवादी साहित्यकारों के हाथों अनूदित होने का अवसर और श्रेय न मिला। तो फिर इसका अनुवाद बच्चन ने क्यों किया ? कुछ कारणों का उल्लेख तो किया जा चुका है। लेकिन सबसे प्रमुख कारण यह है कि—"रूसी कविता की प्रमुख विशेषता उसकी सशक्तता और एक प्रकार की सबलता है। इस कविता के केन्द्र में जीवन है—जीता-जागता जीवन। जीवन का अर्थ है पवन के समान बहना। समुद्र के समान अपने अंतर की वाणी को ऊपर उठाना और किरणों की भाँति जलकर ज्योतिर्मान होना। वहाँ का कवि जब चिन्तन में डूबकर यह प्रश्न करता है कि मैं संसार में क्यों आया हूँ तो एक ही उत्तर पाता है—सूर्य का आलोक देखने के लिए, समुद्र का विस्तार देखने के लिए, ताराओं का संसार देखने के लिए। मृत्यु की चेतना से वहाँ का कवि भयभीत नहीं होता, वह उसे जीवन का महत्त्व समझाती है। वहाँ के मज़दूर की दृष्टि मेहनत पर, सिपाही की लोहे पर और जनता की क्रान्ति पर है। रूसी कवि विलास, निष्क्रियता अथवा आलस्य का समर्थक या पोषक नहीं है। वहाँ का व्यक्ति इसलिए सुखी और संतुष्ट है कि वह व्यक्तिवादी नहीं है। वह मानवता का प्रेमी है।"[1] ऐसी कविता सम्पूर्ण जीवन और मानवता की कविता होती है इसलिए किसी वाद या जीवन-दृष्टि का चौखट इसके लिए बहुत छोटा पड़ता है। इसलिए यदि ऐसी कविताओं की तुलना में सीधा, साफ और सपाट प्रगतिवादी कथा-साहित्य हिन्दी के प्रगतिवादी साहित्यकारों को अधिक प्रिय हुआ तो यह सहज स्वाभाविक है। अब सवाल यह उठता है कि परिपूर्ण जीवन के इस परिपूर्ण काव्य ने बच्चन को क्यों आकृष्ट किया ? क्या इस कविता में और बच्चन की काव्य-दृष्टि या जीवन-दृष्टि में कोई तालमेल है ? ज़रूर ऐसी कोई बात है, नहीं तो साहित्यिक अनुवाद-कार्य हो ही नहीं सकते। अनुवाद वास्तव में उतना ऊपरी काम है नहीं जितना कि समझा जाता है। इसका कवि के भावनात्मक जीवन और सृजनात्मक व्यक्तित्व से गहरा सरोकार होता है। इसलिए रूसी कविताओं के बच्चन द्वारा अनूदित होने के सही कारणों पर विचार करना होगा।

बच्चन जीवन के कवि हैं, ठीक वैसे ही जीवन के कवि जैसा जीवन रूसी

१. विश्वम्भर मानव, माध्यम, अगस्त, १९६६, पृ० ९२

कविता के केन्द्र में माना गया है—जीता-जागता जीवन। ऐसे जीवन का कवि होना एक बहुत बड़ी बात है। जीवन को उसके सच्चे रूप में ग्रहण करना विरले ही कवियों द्वारा सम्भव हो पाता है। वैसे तो जीवन से किसी भी कवि का संबंध निरूपित किया जा सकता है। जीवन स्वयं में इतना व्यापक और प्रभावकारी है कि किसी भी कवि का उससे सीधा या तिर्यक् संबंध स्थापित कर दिया जा सकता है। उसके इतने रूप, स्तर और आयाम होते हैं कि कविता उससे छिटककर दूर नहीं जा सकती। इसलिए छायावादियों का काव्य भी जीवन का काव्य है और छायावादोत्तर कवियों का काव्य भी जीवन का काव्य है। लेकिन जीवन का एक साधारण और प्रकृत रूप भी है। वास्तव में यही जीवन का जीता-जागता रूप है। जीवन के इस रूप को रवीन्द्रनाथ तक अन-देखा नहीं कर सके। शीत-घाम में मेहनत करता हुआ मनुष्य, पसीने से लथपथ, लगातार जीवन-पथ पर चलता हुआ आदमी, मिट्टी कोड़ता हुआ, कुदाल चलाता हुआ और हल जोतता हुआ किसान, फैक्टरियों में फौलाद ढालते हुए मजदूर, वास्तव में जीवन का सीधा-सादा रूप यही है। ऐसे जीवन को देखते तो हजारों कवि हैं, इसके आसंगों में जीते भी रात-दिन हैं, लेकिन इसे काव्य का विषय बना सकें, अपनी कविता में ढालकर अमर और मार्मिक बना दे सकें, यह आसानी से नहीं होता। इसके लिए बहुत प्रौढ़, विकसित, मानवीय और रागात्मक दृष्टि चाहिये। कमोवेश कर जीवन के कवि होने पर भी जीवन के इस रूप को सभी ग्रहण नहीं कर पाते। खासकर आज की दुनिया में, जबकि विविध विचार, मत-सम्प्रदाय, वाद, दृष्टि आदि की प्रधानता होने के कारण मनुष्य और कवि की दृष्टि के आच्छन्न होने का खतरा सबसे अधिक बढ़ गया है। इसलिए जीवन के इस रूप को पहचानना और शक्ति और कौशल के साथ व्यक्त करना सब कवियों के वश की बात नहीं है।

बच्चन जीवन के कवि हैं यह हम कह चुके हैं। उनकी यह विशेषता तभी स्पष्ट हो जाती है जबकि वे छायावादी कवियों की तुलना में अधिक साफ सीधी भाषा, स्वाभाविक मानवोचित लहजा और प्रकृत अभिलाषाएँ लेकर हिन्दी-जगत् के सम्मुख आते हैं। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के कवि को जो अद्भुत ख्याति मिली उसका कारण यही था कि छायावादियों ने जीवन के जिस प्रकृत रूप को एक प्रकार से भुला और झुठला दिया था बच्चन ने उसे छायावादी कविता के आवरण से अलग कर लोगों के सामने रखा। लेकिन बच्चन के तब के काव्य को देखते हुए यही कहा जायगा कि तब भी उनमें जीवन के सच्चे अंश के एक कोण की ही अभिव्यक्ति हो सकी थी। जीवन के और भी कितने

ही प्रकृत रूप, हिस्से और कोण कवि की दृष्टि में आने शेष थे। जब तक कवि उन सब हिस्सों, रूपों और कोणों से अपने अनुभूतिगत स्तर पर परिचित नहीं होता तब तक वह सही माने में जीवन का कवि नहीं कहा जा सकता था।

बच्चन को जीवन के इन विविध रूपों से परिचित होने का सुयोग या दुर्योग शीघ्र ही मिलना शुरू हो गया। वास्तव में किसी कवि के जीवन का दुर्भाग्य ही उसके साहित्य-जीवन का सौभाग्य होता है। जो जितना अधिक दुखी, अभागा, पीड़ित और त्रस्त होता है उसके साहित्य में उतनी ही अधिक व्यापकता, तेज, सच्चाई और प्रभविष्णुता होती है। इस दृष्टि से हमारे सामने तुलसी का जीवन है, निराला का जीवन है और प्रेमचन्द का जीवन है। इनका जीवन कैसा था और इनका साहित्य कैसा है! शायद प्रकृति साहित्यकार के जीवन के दुख, यंत्रणा और पीड़ा का मोल इसी प्रकार चुकाती है!

बच्चन एक सामान्य मध्यवित्तीय परिवार में पैदा हुए। उन्हें शुरू से ही कठिन जीवन-संघर्ष का सामना करना पड़ा। भावुक होने के कारण यह संघर्ष और भी तीव्र और तीखा प्रतीत हुआ। उसपर एक से एक कठिन यन्त्रणा-दायक अनुभव उन्हें हुए। जीविका और नौकरी के लिए संघर्ष, वैवाहिक और पारिवारिक जीवन के द्वन्द्व और दायित्व, पत्नी की लम्बी बीमारी, एक ओर दिन-भर अग्रवाल विद्यालय में अध्यापकी और दूसरी ओर बीमार पत्नी की सेवा-सुश्रूषा, दवा और पथ्य के प्रबन्ध की चिन्ता इन सबने मिलकर कवि को उस कठिन जीवन से परिचित कराना शुरू किया जो उस जीवन से नितान्त भिन्न था जो वह 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के कवि के रूप में जी रहा था। 'निशा निमन्त्रण', 'एकान्त संगीत', 'आकुल अन्तर' के गीत जीवन की कठोर पाठशाला में सीखे गए मार्मिक पाठों के अविकल साहित्यिक रूपान्तर हैं। और इसके बाद ही जीवन की पाठशाला में वे और-और पाठ भी शुरू करते हैं। 'सतरंगिनी' 'मिलन यामिनी', 'प्रणय पत्रिका' ये सभी जीवन के अलग-अलग अनुभव-पुंजों के साहित्यिक प्रतिफलन हैं। इस प्रकार बच्चन को बराबर वह सुयोग मिलता गया जो किसी कवि को जीवन के सच्चे सम्पर्क में लाता है और बनाये रखता है। मूलतः कवि होने के कारण वे इस सम्पर्क-सूत्र को बनाये रख सके। उनके परवर्ती कवि का विकास अधिकतर इसी मार्ग पर, जीवन के सच्चे और सीधे-सादे मार्ग पर, हुआ। ऐसे कवि को यदि रूसी कविता के काव्य-वैभव, भाव-सम्पदा और मानवीय अनुभूति ने आकृष्ट किया तो यह स्वाभाविक है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि रूसी कविताओं का अनुवाद स्वयं बच्चन के काव्य-विकास के मेल में है।

वास्तव में किसी कृति का सम्यक् मूल्यांकन तभी सम्भव हो पाता है जब हम उसे कवि के विकासमान व्यक्तित्व के प्रसंग में रखकर देखें। ऐसा नहीं करने से उसकी कुछ विशेषताएँ ठीक-ठीक उद्घाटित नहीं होतीं। बच्चन के परवर्ती काव्य में जीवन का जो वैविध्य है, कथ्य की जो वस्तून्मुखता है वह सहज ही उनमें वह अभिरुचि जागृत करने में समर्थ है जिसके कारण उन्होंने रूसी कविताओं की ओर ध्यान दिया और उनका अनुवाद प्रस्तुत किया। सभी कविताओं को अनूदित करने का यथार्थ कारण वही है। और कारण तो प्रासंगिक कारण ही कहे जा सकते हैं।

(ख) मरकत द्वीप का स्वर

'मरकत द्वीप का स्वर' अँग्रेज़ी के प्रसिद्ध आयरिश कवि विलियम बटलर ईट्स की १०१ स्फुट कविताओं का अनुवाद है। पुस्तक हाथ में लेते ही सबसे पहला सवाल यह उठता है कि डा० बच्चन ने ईट्स को अनूदित करना क्यों आवश्यक समझा? इस क्रम में दिनकर सोनवलकर द्वारा बच्चनजी के समक्ष प्रस्तुत उस प्रश्न की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है जिसमें पूछा गया है—"आपने ईट्स का चुनाव महज़ अपने शोधकार्य के कारण किया अथवा उनकी काव्यात्मक विशेषताओं के आधार पर?" बच्चनजी इसका कोई उचित उत्तर नहीं दे सके हैं। लेकिन इसका उत्तर अमरीकी कवि जैक लडविग की एक बातचीत से मिलता है। उन्होंने कहा है—"हमारी पीढ़ी को अब इलियट और पाउण्ड की कविता वूढ़ों की कविता लगती है। नयी पीढ़ी मानती है कि संसार बहुत अधिक उलझा है और इलियट और पाउण्ड की कविता उन सब उलझनों को स्थान नहीं दे पायी है। हमारा अब उनमें विश्वास नहीं रहा है। इलियट पाउण्ड से अधिक प्रभाव अभी विलियम बटलर येट्स का है।"[1] आगे चलकर वे पुन: कहते हैं— "येट्स उतना सनकी नहीं था। अपनी कविता में येट्स ने उस वास्तविकता को सम्बोधित किया है जिसे पहचानने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती। इलियट और पाउण्ड का संसार इसके विपरीत बहुत अवास्तविक, बहुत पोज़्ड है और हम उस संसार को पथ-प्रदर्शक के रूप में नहीं अपना सकते।"[2] इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक पीढ़ी के लिए ईट्स को पसंद करने के निश्चित कारण हैं। तो क्या बच्चनजी ने भी इन्हीं

१. ज्ञानोदय, अगस्त १९६६, पृ० १११-१२
२. वही, पृ० ११२

कारणों से ईट्स को अनूदित किया ? यद्यपि बच्चन ऐसा कहीं नहीं कहते फिर भी मुझे लगता है कि वास्तविक कारण यही है। ऐसा सोचने का कारण सम्भवत: यह है कि स्वयं बच्चन भी उसी वास्तविकता को चित्रित करने के अभ्यासी हैं जिनको ईट्स चित्रित करते हैं। बच्चन के परवर्ती काव्य में उनका वास्तविकता बोध अधिक प्रत्यक्ष हुआ है। यह कवि की प्रौढ़ दृष्टि, उम्र और युग का तकाज़ा है। लेकिन यह वास्तविकता इलियट और पाउण्ड आदि की सी वास्तविकता अर्थात् प्रयोगवाद और नयी कविता की वास्तविकता से भिन्न है। अपने समकालीनों में बच्चन की वास्तविकता का एक अलग रूप-रंग है। यह वास्तविकता ईट्स की उस वास्तविकता से मिलती-जुलती है जिसे हवा में नाचते हुए बच्चे को सम्बोधित कर इन पंक्तियों में व्यक्त किया गया है—

तुम छोटे हो
अभी नहीं तुमने देखा है
विजय मूर्ख की
हार प्रेम की
ज्यों ही वह विजयी होता है
कटी फसल गड्डों में बँधने को बाकी है
और खेतिहर मर जाता है।

(पृ० ७८)

ईट्स की कविता में व्यक्त वास्तविकता का एक और रूप देखिये—

एक अराजकता जगती पर चढ़ बैठी है
बाँध तोड़कर खूनी ज्वार बढ़ा आता है
और सब जगह भोले-भालेपन की दुनिया डूब गई है
आज बड़े विश्वास रिक्त हैं
और विषम कुंठा छोटों से भरी हुई है।

(पृ० १००)

वास्तविकता के ठीक ऐसे ही रूप बच्चन के काव्य में भी यत्रतत्र सर्वत्र मिलते हैं। तो क्या इसी कारण वे ईट्स की ओर आकर्षित नहीं हुए होंगे ?

कोई कवि किसी कवि के द्वारा अनायास अनूदित नहीं होता। अनूदित तभी होता है जब उसके हृदय के तार उसके हृदय के तारों से मिलते हैं। लेकिन इसके साथ और भी एक बात है। कोई कवि किसी विशिष्ट काल में ही अनुवादक का

ध्यान क्यों आकृष्ट करता है ? इसके भी कारण हैं। इसके पीछे युग के मनोभाव होते हैं। एक समय था जबकि बच्चन ने उमर ख़ैयाम का अनुवाद किया। फिर वे ईट्स को अनूदित करने को क्यों उत्सुक हुए ? इसका कारण सम्भवतः यह है कि अनुवाद अनुवादक की इच्छा मात्र से परिचालित न होकर युग की रुचि द्वारा भी परिचालित होता है। जैसा कि जैक लडविग ने कहा है आज येट्स का सा दृष्टिकोण अधिक सहज और स्वाभाविक समझा जाने लगा है। यह बात हम पर भी लागू होती है—विशेषकर आधुनिक हिन्दी कविता के प्रसंग में। जिस प्रकार इलियट और पाउण्ड का संसार बहुत अवास्तविक और पोज़्ड है उसी प्रकार प्रयोगवादियों और तथाकथित नये कवियों द्वारा चित्रित संसार भी अवास्तविक और पोज़्ड कहा जा सकता है। इसलिए उनके चित्रण से ऊबकर जीवन और वास्तविकता के सहज चित्रण की ओर आकृष्ट होना युगरुचि के लिए सहज स्वाभाविक है। सम्भव है युग-मानस के इस झुकाव ने भी बच्चन को ईट्स की कविताएँ अनूदित करने के लिए प्रेरित किया हो।

ईट्स और उसकी कविता पर विचार करते हुए बच्चन ने 'नये पुराने झरोखे' में लिखा है—"ईट्स की रचनाओं के दो विभाग किये जाते हैं—पूर्व ईट्स और उत्तर ईट्स। पूर्व ईट्स में वे गुण प्रधान हैं जिन्हें हम रोमांटिक कहते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् ईट्स की रचनाएँ रोमांटिक गुणों से मुक्त हो गईं। स्वप्न और लालित्य का स्थान वास्तविकता और ओज ने ले लिया।" ये बातें कुछ हेर-फेर के साथ बच्चन के काव्य के लिए भी लागू हो सकती हैं। बच्चन का पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्य भी इसी प्रकार का है—शुरू में रोमांटिकता अधिक है और बाद में वास्तविकता। मधुशाला से लेकर प्रणय पत्रिका तक का काव्य कमोवेश कर रोमांटिक ही कहा जा सकता है। लेकिन 'बुद्ध और नाचघर' के बाद से उनकी कविताओं में वास्तविकता अधिक मुखर और प्रत्यक्ष होने लगती है। केवल भाव ही नहीं भाषा की कोमलता और लालित्य भी वास्तविकता की ओजपूर्ण शब्दावली में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईट्स और बच्चन में कुछ बातों को लेकर साम्य है। क्या इस साम्य के कारण भी बच्चन ईट्स को अनूदित करने के लिए प्रेरित नहीं हुए होंगे ?

ईट्स के वारे में विचार करते हुए 'मरकत द्वीप के स्वर' के अन्त में संकलित अपने लघु निबंध में डा० बच्चन ने लिखा है—"ईट्स का मूल स्वर है संघर्ष, यह जानते हुए भी संघर्ष कि अन्त में मनुष्य को पराजित ही होना है

यानी ट्रेजेडी की सोल्लास स्वीकृति ।"[1] स्वयं बच्चन के काव्य में भी इस ट्रेजेडी की सोल्लास स्वीकृति है। आज युग की प्रवृत्ति भी कुछ ऐसी ही होने को विवश है। आज कुछ कवि ऐसे अवश्य हैं जो मनुष्य की पराजय और उसकी ट्रेजेडी से त्रस्त और आशंकित हैं और उनकी कविता में वैसे ही चित्रों की प्रधानता है। पर अब अधिकांश कवि यह भी समझने लगे हैं कि ऐसा करने से काम नहीं चलेगा। अब कविता में वैसे विषण्ण चित्र रुचिकर नहीं समझे जाते। इसलिए अब कवियों का एक समुदाय ऐसा भी है जो ट्रेजेडी की सोल्लास स्वीकृति में ही विश्वास रखता है। ट्रेजेडी को हम टाल नहीं सकते, वह तो आज की वास्तविकता है, उसे स्वीकार करना ही है, पर इससे भयभीत नहीं होना है। बच्चन तो ऐसे कवि हैं ही। 'आरती और अंगारे' में उन्होंने कहा है—

स्वर्ग-नरक, साधना-वासना,
सुख-दुख, आशा और निराशा
आलिंगन में बद्ध खड़े हैं
पाप करूँगा जो अलगाऊँ

(पृ० १६७)

वे 'निशा निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' के साथ-साथ 'मिलन यामिनी' और 'सतरंगिनी' के कवि भी हैं। इसलिए मानवीय ट्रेजेडी की सोल्लास स्वीकृति उनके लिए सहज स्वाभाविक है। ऐसी कितनी ही पंक्तियाँ बच्चन के गीतों में मिलती हैं—

एक अनजानी दिशा से तीर आया
बिंध गया मैं छटपटाया
क्रूरता इतनी जहाँ पर है, न होगा
उस जगह पर प्यार कैसे ?

(आरती और अंगारे, पृ० १८४)

है मुझे देखा नहीं फूला विजय ने
औ' पराजय ने नहीं भयभीत मुझको
मैं सदा संसार से लड़ता रहा हूँ

१. इस संबंध में ईट्स की कविता से एक उदाहरण लीजिये—
सारी दुनिया एक लपट में
अगर कोयले सी जल जाये
तो भी कोई वजह नहीं है मन घबराये (पृ० ४३)

बस यही है हार मुझको, जीत मुझको

(वही, पृ० २१०)

इस प्रकार स्पष्ट है कि ईट्स की कविताओं का यह अनुवाद बच्चन की उस कोटि का अनुवाद नहीं है जिसके अन्तर्गत हम उनके शेक्सपीयर के अनुवादों को रखते हैं। ईट्स की कविताओं का यह अनुवाद सामयिक और प्रासंगिक तो है ही कवि और पाठकों की भावधारा और रुचि-प्रकार के मेल में भी है।

बच्चन का काव्य और यथार्थ के बदलते हुए रूप

कविता, कला और साहित्य का उत्स क्या है ? क्या वह कवि, कलाकार और साहित्यकार के मस्तिष्क और हृदय से फूट निकलता है या उसकी कुक्षि समाज की रूप-दशा और वातावरण है ? या वह दोनों के संयोग से निर्मित होता है ? इसी क्रम में यह पूछा जाना भी समीचीन है कि किसी कलाकार या साहित्यकार का अध्ययन किस दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये ? क्या उसके सृजन की सम्पूर्ण परिधि में उसे ही देखना-ढूंढ़ना चाहिये, केन्द्र में भी, और व्यास-वृत्तों में भी, यथार्थ को, अधिक से अधिक, इर्द-गिर्द फैले हुए धुँधले धब्बों के रूप में देखना चाहिये ? या युग-यथार्थ और उसके बदलते हुए रूप और आयाम ही अध्ययन के मूल विषय हों और कलाकार के सृजन को, उस प्रसंग में, और अन्ततः उसकी परिणति के रूप में, देखना चाहिये ? क्या कलाकार का अलग साहित्यिक मूल्यांकन न करते हुए यथार्थ और उसके बदलते हुए रूपों का अध्ययन करते हुए ही कलाकार के कृतित्व का उल्लेख और विश्लेषण इस प्रकार नहीं हो सकता कि वह यथार्थ के विवेचन को अमूर्त होने से बचाये और विवेचित तथ्यों को कलाकार के सृजन से उदाहृत करे ?

कोई कलाकार युग-यथार्थ से निरपेक्ष नहीं रहता, रह नहीं सकता है—यहाँ तक कि रसवादी और कलावादी भी नहीं। हालाँकि सब नियमों के अपवाद होते हैं, लेकिन अब तक इस नियम के अपवाद नहीं देखे गये। जो देखने में आये, या आते भी हैं, वे इतने क्षीण और क्षणिक हैं कि इससे नियम की सर्वमान्यता में कोई अंतर नहीं पड़ता। बच्चन की ही बात लीजिये—एक समय ऐसा अवश्य लगा था कि वह युग-यथार्थ से अप्रभावित रह सकते हैं। बच्चन ने 'आरती और अंगारे' की भूमिका में लिखा है—"इस उस कोने से आपको लोगों के ऐसे भी स्वर सुनाई देंगे कि अब गीतों का युग बीत गया।···आज जो ऐसी बातें कह रहे हैं उन्हींके बाप-चाचों ने, जब 'मधुशाला' निकली थी, तो कहा था यह मस्ती का राग अलापने का युग नहीं है, 'निशा निमंत्रण' निकला तो कहा था यह रोदन-क्रन्दन का युग नहीं है, 'सतरंगिनी' निकली तो कहा था यह

प्रेम के तराने उठाने का युग नहीं है और उनके बेटों-भतीजों ने 'प्रणय पत्रिका' निकली तो कहा यह तो बीते युग की बातें हैं।" इससे स्पष्ट है कि कुछ लोगों को कभी बच्चन का सृजन युग-यथार्थ से सर्वथा अप्रभावित और अछूता दीखा था हालाँकि यह अप्रभाव और अछूतापन ठीक-ठीक वह और उतना था नहीं, जितना तब समझा गया था। लेकिन तब ऊपर-ऊपर से देखने पर ऐसा अवश्य लगता था कि बच्चन युग-यथार्थ से, और उसके दबावों से, बचे-बचे से रह रहे हैं, कि उनमें वह शक्ति, कौशल और मस्ती है कि वह युग-यथार्थ से साफ कतराकर निकलते जा रहे हैं, कि यथार्थ की पकड़ कवि के सबल और समर्थ व्यक्तित्व पर इतनी ढीली है कि वह उसे रोकने-थामने में असमर्थ है।

कविता और यथार्थ के विवेचन-क्रम में हमें दो पक्षों और उनके व्यक्तित्व की चर्चा करनी होगी—एक तो कलाकार और उसका व्यक्तित्व और दूसरा यथार्थ और उसका व्यक्तित्व। इन दोनों में कौन और किसका व्यक्तित्व बड़ा है? बड़ा युग-जीवन है या कलाकार? सृजन मेरे जानते एक संघर्ष है जिसमें इन दोनों पक्षों—कलाकार और यथार्थ—और उनके व्यक्तित्वों की टक्कर होती है। इस संघर्ष में आदर्श स्थिति तो यह है कि दोनों जोड़े के साबित हों। इन दोनों में कोई छोटा-बड़ा नहीं है। जो प्रथम श्रेणी का कलाकार है अर्थात् व्यक्तित्ववान है (व्यक्तित्वहीन कलाकारों और व्यक्तित्वहीन यथार्थ की चर्चा हम नहीं कर रहे हैं) वह अपने युग-जीवन से छोटा नहीं पड़ता। और युग-यथार्थ भी, अपने सही और समर्थ रूप में, लेखक से कम नहीं है। वह बड़े से बड़े कलाकार से हार नहीं मानता, उसके सामने झुकता नहीं। एक उदाहरण से हम अपनी बात अच्छी तरह से स्पष्ट कर सकेंगे। कलाकार यदि शिव है तो युग-यथार्थ गरल है। सच्चा और समर्थ कलाकार युग-यथार्थ को, उसके रग-रेशे को, बिना जाने-पहचाने, पिये, भोगे, यथार्थ और अभिव्यक्त किये छोड़ेगा नहीं। इसे उसका स्वभाव, ज़िद या धुन जो भी समझिये। लेकिन यथार्थ भी ऐसा है कि वह कलाकार में समाकर, प्रविष्ट होकर, गलपच नहीं जायेगा, अपना व्यक्तित्व विलीन नहीं करेगा, कलाकार पर अपनी निश्चित छाप छोड़ेगा। कलाकार को नीलकंठ बनाकर दम लेगा, उसके कृतित्व में सिरे पर, अलग से दीखेगा, पहचाना जायेगा, छिपाये कहीं छिपेगा नहीं। इस दृष्टिकोण से बच्चन के काव्य का अध्ययन करना उचित और मनोरंजक होगा।

बच्चन ने अपने कवि-जीवन का श्रीगणेश सन् १९३५ से, 'मधुशाला' के कवि-रूप में, किया। यह वह समय है जबकि हम पराधीन थे लेकिन स्वतंत्रता के लिए आन्दोलन कर रहे थे। भारत की परिस्थितियों में इस समय

तक यथार्थ उग्र और उत्कट हो चुका था, इसमें सन्देह नहीं। अगले ही वर्ष यानी सन् १९३६ में दो ऐसी घटनाएँ हुईं जो यथार्थ के बदले हुए तेवर स्पष्ट करती हैं। एक हिन्दी साहित्य में प्रगतिशील आन्दोलन की शुरूआत और दूसरी 'गोदान' का प्रकाशन। ये दोनों ही बातें स्पष्ट करती हैं कि भारतीय परिस्थिति में यथार्थ का रूप-रंग बदल रहा था और देश, जनता और यहाँ के बुद्धिजीवियों पर उसके प्रभाव पड़ रहे थे। लेकिन इस समय के यथार्थ को ध्यान में रखने से यह भी स्पष्ट होता है कि एक आशा थी, जातीय जीवन में एक उत्साह था जो हमें निरन्तर आगे खींचे जा रहा था। प्रगतिशील आन्दोलन का घोषणा-पत्र और गोबर का चरित्र और वक्तव्य दोनों ही आशा का सन्देश देते हैं। इस समय तक आकर टूटा था होरी, टूटी थी धनिया, झुनिया और गोबर का उत्साह भंग नहीं हुआ था। वे उत्साह के साथ फाग मना सकते थे, स्वांग नकलकर राय-साहब और उनके कारिन्दे जैसे लोगों को चिढ़ा सकते थे, हड़तालों में भाग ले सकते थे। अर्थात्, इस समय तक यथार्थ इतना उग्र और उत्कट नहीं हुआ था कि नयी पीढ़ी उससे संत्रस्त हो जाती। वह यदि उग्र और उत्कट था तो इतना ही कि पुरानी पीढ़ी के लोगों को, होरी और धनिया को, त्रस्त और आतंकित कर सकता था। इस परिस्थिति में यदि बच्चन ने 'मधुशाला' और 'मधुबाला' की रचना की तो वह सहज स्वाभाविक है। इस समय तक यथार्थ का रूप ही ऐसा था कि उससे बचा जा सकता था।

सन् १९३५-३६ के बाद मानवीय इतिहास में सबसे बड़ी घटना घटी विश्व-युद्ध। इसने सम्पूर्ण विश्व को एक नये सिरे से झकझोरा। संसार के अन्य देशों के यथार्थ में इसके चलते उत्कट परिवर्तन हुए। युद्ध-पूर्व यूरोप का यदि युद्धोत्तर यूरोप से तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि पहले का यथार्थ और उसके बोध क्या थे और युद्ध के बाद वह क्या और कैसा हो गया? उसने कला और साहित्य को कहाँ और किस तरह से प्रभावित किया। लेकिन भारत पर इस विश्वयुद्ध का प्रभाव कुछ दूसरा ही पड़ा। भारत इस समय पराधीन था और युद्ध में प्राणपण से नहीं, विवश होकर, सरकारी स्तर पर ही, भाग ले रहा था। सम्पूर्ण देश के जन-जीवन को इस युद्ध से कुछ लेना-देना नहीं था। वे तो युद्ध का निर्मम तमाशा देख रहे थे। इसलिए भारतीय यथार्थ पर युद्ध का वैसा ध्वस्तकारी प्रभाव नहीं पड़ा जैसा यूरोपीय मानस पर पड़ा। यहाँ तो लोग एक प्रतीक्षा में, एक उम्मीद-भरी प्रतीक्षा, में थे। बच्चन ने युद्ध की ज्वाला शीर्षक कविता में कहा है—

> किन्तु कुन्दन भाग जग का

आग में क्या नष्ट होगा ?
क्या न तपकर, शुद्ध होकर
और स्वच्छ स्पष्ट होगा
एक इस विश्वास पर बस आस जीवन की टँगी है।
युद्ध की ज्वाला जगी है।

(धार के इधर उधर)

युद्ध की ज्वाला से घिरे होकर यह उम्मीद वही देश कायम रख सकता है जो आधुनिक युग के वैज्ञानिक युद्ध का प्रत्यक्ष भोक्ता नहीं है। विश्वयुद्ध का जैसा स्वरूप था उसे देखते हुए पराधीनता और स्वाधीनता के बीच उलझा हुआ एक तटस्थ देश ही ऐसी आशा पाले रख सकता था। जो देश प्रत्यक्ष रूप से इस युद्ध में हिस्सा ले रहे थे वे तो दाँतों से होंठ भींचे युद्ध-प्रयत्नों में लगे हुए थे। उनका उत्साहमूलक यथार्थ अवसाद और संघर्षपूर्ण यथार्थ में परिणत हो रहा था। कहने का तात्पर्य यह कि सन् १६४० के लगभग यथार्थ के रूप-रंग यद्यपि संसार के और-और देशों में बहुत बदल चुके थे पर हिन्दुस्तान में उसका एक दूसरा ही रूप था। यहाँ का यथार्थ इतना कठिन, क्रूर और निर्मम नहीं हुआ था कि हमारे उत्साह के सारे स्रोतों को सोख लेता। युद्ध के पूर्व आर्थिक मंदी आदि की जो घटनाएँ हुई थीं उनका प्रभाव जैसा यूरोपीय देशों पर पड़ा था वैसा भारत पर नहीं पड़ा था। सबसे बड़ी बात यह थी कि हम एक बड़ी लड़ाई की तैयारी कर रहे थे, हमें अंग्रेज़ी सत्ता से लोहा लेना था, उसे खदेड़कर बाहर भगाना था। इस स्थिति में हम चोट खा-खाकर भी उसे भूलने को विवश थे। बच्चन ने सन् १६४२ में घायल हिन्दुस्तान शीर्षक कविता में कहा था—

मुझको है विश्वास किसी दिन
घायल हिन्दुस्तान उठेगा
दबी हुई दुबकी बैठी हैं
कलरवकारी चार दिशाएँ
ठगी हुई, ठिठकी-सी लगतीं
नभ की चिर गतिमान हवाएँ
अम्बर के आनन के ऊपर
एक मुर्दनी-सी छाई है
एक उदासी में डूबी है
तृण तरुवर पल्लव लतिकाएँ
आँधी के पहले देखा है

कभी प्रकृति का निश्चल चेहरा
इस निश्चलता के अन्दर से
ही भीषण तूफ़ान उठेगा

(धार के इधर उधर)

बच्चन की इस कविता का तत्कालीन यथार्थ के अध्ययन की दृष्टि से बड़ा महत्त्व है। इससे भारतीय जीवन के यथार्थ पर पड़नेवाले युद्ध के प्रभाव भी स्पष्ट होते हैं और यह भी स्पष्ट होता है कि उस यथार्थ को नकारने या परे ढकेल देने में हमारा जातीय जीवन और हमारा आस्थामूलक जीवन-मान कितना समर्थ था। इसलिए यह कहना सही है कि यद्यपि सन् १९३५-३६ की तुलना में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थिति सन् १९४० के यथार्थ को अधिक उत्कटता से प्रभावित करने की स्थिति में थी तथापि भारत पर उसका वैसा प्रभाव नहीं पड़ रहा था। अर्थात् सन् १९४०-४२ तक भी यहाँ यथार्थ इतना उग्र और उत्कट नहीं हुआ था कि एकबारगी साहित्य और कविता की धारा को एकदम मोड़ देता। सन् १९४० से नयी कविता और प्रयोगवाद आदि का प्रारम्भ हुआ अर्थात् यथार्थ इतना ज़रूर बदला कि उसने छायावादी कविता, कल्पना और गीत रचना के कुहर-जाल को जहाँ-तहाँ से छिन्न-भिन्न करना शुरू किया लेकिन फिर भी वह इतना अधिक नहीं बदला कि 'सतरंगिनी' जैसी कृतियों की रचना असम्भव और असंगत प्रतीत होती। इसलिए यदि इस समय तक भी बच्चन का गीतकार सुरक्षित रहा और 'सतरंगिनी' के गीतों की रचना करता रहा तो यह सहज स्वाभाविक है। 'सतरंगिनी' में जगह-जगह पर यथार्थ की काली छाया है। कवि ने लिखा है—

तिमिर के राज का ऐसा
कठिन आतंक छाया है
उठा जो शीश सकते थे
उन्होंने सिर झुकाया है

अथवा

प्रलय का सब समां बाँधे
प्रलय की रात छाई है
विनाशक शक्तियों की इस
तिमिर के बीच बन आई

लेकिन इन कठिन परिस्थितियों में भी विद्रोह की ज्वाला जगाये, निर्माण की आशा लिए हुए कुछ लोग हैं। इससे स्पष्ट है कि यथार्थ अभी इतना निर्मम और त्रासकारी नहीं हुआ है कि मानव-मन का उत्साह और संकल्प उसके सामने

घुटने टेक दे। परिस्थिति चाहे कितनी भी क्यों न बिगड़ी हो कवि यह कहने की स्थिति में है कि—

कल सुधारूँगा हुई
संसार में जो भूल
कल उठाऊँगा भुजा
अन्याय के प्रतिकूल

सन् १९४२ में 'अंग्रेज़ो भारत छोड़ो', 'करो या मरो' जैसे देशव्यापी आन्दोलन छिड़े। ये आन्दोलन उस प्रकार कुचले नहीं जा सके जिस प्रकार सन् १८५७ का गदर कुचला गया था। अंग्रेज़ी सत्ता ने सारे प्रयास किये, अपने सभी साधनों और शक्तियों का उपयोग किया लेकिन फिर भी जन-मानस के भाव और उसके उग्र और उत्कट स्वाधीनता-प्रयत्न कुचले नहीं जा सकें। इस प्रकार विषण्ण भारतीय यथार्थ को उत्साह के नव-जल का नव-सिंचन प्राप्त होता रहा। यदि सन् १९४२ का आन्दोलन बुरी तरह असफल होता तो भारतीय परिस्थितियों में यथार्थबोध अधिक उत्कट और त्रासकारी होता क्योंकि विश्वयुद्ध के ठीक बाद की निराशा अधिक तोड़नेवाली होती। लेकिन ऐसा हुआ नहीं, उल्टे सन् १९४२ की सफलता ने लोगों के मन में आशा के अंकुर उगा दिये। सन् १९४२ के बाद ही यह स्पष्ट हो गया कि सरकार को देर या सवेरु से भारत को स्वतंत्रता देनी ही है। इस उम्मीद की पूर्ति हुई पन्द्रह अगस्त सन् १९४७ को जबकि हमें आज़ादी मिली।

सन् १९४७ का काल भारतीय यथार्थ की विकास-यात्रा में एक पड़ाव और मोड़ है। पड़ाव इस अर्थ में कि एक संघर्षरत राष्ट्र यहाँ आकर विराम की साँस लेता है। उसका संघर्ष कुछ हद तक थम जाता है और मोड़ इस अर्थ में कि अब यहाँ से संघर्ष के नहीं निर्माण के प्रयत्न शुरू होते हैं। अब हमारे भावों, विचारों और कर्मों की दिशा बदल जाती है। इसलिए यहाँ से यथार्थ का एक नया रूप-रंग शुरू होता है। लेकिन यह अपेक्षित ढंग से कायम नहीं रह पाता। १५ अगस्त, सन् १९४७ को भारतीय यथार्थ में जो एक मोड़ और बदलाव आया था उसका रंग कच्चा और फीका है यह शीघ्र ही मालूम होने लगता है। लेकिन यह प्रतीति धीरे-धीरे हुई। आज़ादी के बाद साल दर साल बीतते चले गये लेकिन देश का कायापलट नहीं हुआ। अब आशा और उत्साह की जगह आशंका और ऊब के अनुभव होने लगे। लेकिन उम्मीद और सपना था कि हार मानने को तैयार नहीं होता था। कुछ और, कुछ और की प्रतीक्षा का समय लम्बा होता जा रहा था। हमारे नेता भी कह रहे थे कि दीर्घकालीन

बुराइयाँ शीघ्र दूर नहीं होंगी और हम भी अनुभव करते थे कि किसी देश को उठने और जागृत होने के लिए कुछ वर्षों का समय बहुत कम है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सन् १९४७ से लेकर सन् १९५७ तक का समय, जो प्राय: एक दशक है, उम्मीद और नाउम्मीदी के कशमकश का समय है। इसके बाद ही निराशा, क्षोभ, ऊब और झुंझलाहट के अनुभव होने लगते हैं। यदि उदाहरण देना आवश्यक हो तो आज़ादी और आज़ादी की विभिन्न वर्षगाँठों पर लिखी बच्चन की कविताएँ ली जा सकती हैं। 'धार के इधर उधर' में ऐसी कई कविताएँ संकलित हैं जैसे स्वतंत्रता दिवस, आज़ाद हिन्दुस्तान का आह्वान, आज़ादों का गीत, आज़ादी का नया वर्ष, आज़ादी की पहली वर्षगांठ, आज़ादी की दूसरी वर्षगाँठ, आज़ादी की नवीं वर्षगाँठ आदि। ऐसी कविताएँ बाद के संकलनों में भी हैं जैसे 'त्रिभंगिमा' में गणतंत्र दिवस और 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' में आज़ादी के चौदह वर्ष आदि। यदि इन कविताओं को तुलनात्मक ढंग से निरखा-परखा जाय तो स्पष्ट होगा कि आज़ादी मिलने के बाद किस प्रकार धीरे-धीरे हमारे विश्वास पंगु होते गये और इस प्रकार यथार्थ हमारे लिए अधिक कष्टकर और त्रासदायक होता गया। इसलिए आज़ादी के बाद का पहला दशक हमारे स्वप्न-भंग का समय है। ऐसी परिस्थितियों में यदि छायावादोत्तर गीत-कविता का दम घुटना शुरू हो गया तो यह स्वाभाविक है। इस समय तक आते-आते कवि-कलाकारों पर यथार्थ की पकड़ इतनी कड़ी और मज़बूत हो गई कि 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' के कवि को कहना पड़ा—

> और छाती वज्र करके
> सत्य तीखा
> आज यह
> स्वीकार मैंने कर लिया है
> स्वप्न मेरे
> ध्वस्त सारे हो गये हैं
> × ×
> निगलना ही पड़ेगा
> आँख को यह
> सुर सुतीक्ष्ण यथार्थ दारुण

(त्रिभंगिमा, पृ० १५३)

ये पंक्तियाँ आज़ादी के बाद यथार्थ के बदले हुए रूप और उसके प्रभाव को ठीक-ठीक व्यंजित करती हैं। अब आज़ादी उत्साह और उम्मीद की चीज़

नहीं रही। अब यथार्थ निपट नंगे रूप में हमारे सामने आ खड़ा हुआ। यहाँ थोड़ा-सा विषयान्तर प्रासंगिक होगा। आखिर यथार्थ क्या है? क्या वह शत-प्रतिशत बाहरी परिस्थितियों का प्रतिफल है या उसका हमारे मन के भावों और विचारों से भी कुछ लेना-देना है? जो शुद्ध वस्तुवादी हैं वे यथार्थ को केवल बाहरी परिस्थितियों के ऊपर निर्भर बतायेंगे। लेकिन यथार्थ का आदमी के भावों, विचारों और जीवन-दशाओं से भी कुछ लेना-देना रहता है। यथार्थ मानव-निरपेक्ष उतना होता नहीं, जितना समझा जाता है। मानव-मन पर पड़नेवाला उसका प्रभाव प्रायः व्यक्ति या जाति की मनोदशा के अनुसार ही निर्धारित होता है। यथार्थ एक जैसा होकर भी अलग-अलग मानव-समूहों को अलग-अलग ढंग से प्रभावित करता है। युद्धोत्तर यथार्थ का प्रभाव यूरोप पर भी पड़ा और सोवियत रूस जैसे समाजवादी देशों पर भी। लेकिन दोनों पर पड़नेवाले प्रभाव अलग-अलग किस्म के थे। अतः यह कहना सही है कि बाहरी परिस्थितियों और व्यक्ति और जाति की मनोदशाओं के योग से यथार्थ का स्वरूप बनता-बिगड़ता है। शीशे के ग्लास में थोड़ा जल रखकर आशावादी और निराशावादी दोनों की प्रतिक्रिया जानी जा सकती है। निराशावादी कहेगा—इतना थोड़ा जल है। लेकिन आशावादी कहेगा—अभी इतना जल है। इस प्रकार यथार्थ एक होने पर भी उसका पड़नेवाला प्रभाव अलग-अलग है। भारत में स्वातंत्र्योत्तर यथार्थ इसलिए अधिक उग्र, जटिल और भयावह प्रतीत होने लगा कि इस समय तक जन-जीवन की मनोदशाओं में पर्याप्त परिवर्तन हो चुके थे। आज़ादी के पूर्व भारतीय जन-जीवन पराधीन था, विपन्न था, पर ओज-रहित नहीं था। दमन, युद्ध, बेकारी, महामारी और महँगाई के दुष्परिणामों को झेलते हुए भी उसमें लड़नेवाली जाति का उत्साह और जीवट था, उम्मीद और आकांक्षा थी। लेकिन आज़ादी मिलने के बाद धीरे-धीरे उसकी वे आकांक्षाएँ मिटने लगीं, निराशा और असफलता का अंधकार उन्हें घेरने लगा, उनके जीवन का ओज समाप्त हो गया। कवियों को विवश होकर कहना पड़ा—

अंधकार घन अंधकार है
पथ दुर्गम है
खाई, खंदक हैं, पहाड़ हैं
चोर, छिछोर, उठाईगीर, उचक्के
फितनेसाज़ आज
दल बल सक्रिय हैं सुसंगठित हैं

(त्रिभंगिमा, पृ० २१०)

एक ओर तो लम्बे-लम्बे आदर्श और सिद्धांत-वाक्य, नयी-नयी योजनाएँ और दूसरी ओर विपन्नता, बेकारी, भूख, सम्पत्ति का असमान बँटवारा, शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास आदि की असुविधा के कटु अनुभवों ने जनता के मन के ओज और संकल्प समाप्त कर दिये। उसकी उम्मीदों को हर पांच वर्ष के बाद करारे झटके लगने शुरू हो गये। अब लोगों में प्रतीक्षा करने का धैर्य नहीं रहा। कवियों ने क्षुब्ध होकर लिखा—

घूर का भी भाग
बारह बरस पर है बदल जाता
यहाँ बारह बरस में कुछ भी न बदला (त्रिभंगिमा, पृ० २१३)

इस प्रकार स्पष्ट है कि आज़ादी के बाद भारतीय जनता की मनोदशा ऐसी हो गई कि यथार्थ दिन-दिन दारुण और चुभनेवाला प्रतीत होने लगा। इसलिए अब कवियों के लिए गीत रचना सम्भव नहीं रह गया। अब 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' का कवि भी गीत लिखते हुए 'गर्म लोहा पीट ठंडा पीटने को वक्त बहुतेरा पड़ा है' जैसी पंक्तियाँ लिखने लगा और फिर तुरन्त बाद ही 'बुद्ध और नाचघर' जैसी व्यंग्यात्मक यथार्थवादी कविताएँ लिखने के लिए विवश हो गया। आज़ादी के बाद भारतीय साहित्य-क्षेत्र में यूरोप से मिलती-जुलती नयी साहित्यिक प्रवृत्तियों का विकास अकारण नहीं हुआ। अब यहाँ के लोग भी युद्धोत्तर यूरोपीय लोगों से मानसिक और भावात्मक साम्य का अनुभव करने लगे। एक जहाँ युद्ध के प्रलयंकारी प्रभावों से एकाएक ध्वस्त और पराभूत हुआ था वहाँ दूसरा अपनों द्वारा किये गये शोषण, छल, वादा-खिलाफी, भ्रष्टाचार और मुनाफाखोरी की चोट खाकर धीरे-धीरे टूटा। इस प्रकार आज़ादी के बाद के दशक में हम भी कुछ-कुछ उस मनोभूमि पर पहुँचते से लगे जो पश्चिमी कवियों का बंजर प्रदेश (waste land) है। यद्यपि यहाँ का यथार्थ अब भी उतना दारुण और भयावह नहीं हुआ था क्योंकि धर्म-प्रधान आस्थामूलक या समाजवादी दृष्टिकोण हमें अब भी सम्हाले हुए है, तथापि अभाव और पीड़ा-बोध ने हमें बुरी तरह झकझोरना और संत्रस्त करना शुरू कर दिया था। इस प्रकार स्पष्ट है कि निपट नंगा यथार्थ भारतीय परि-स्थितियों में आज़ादी के बाद ही फूला-फला। सन् १६३५ और ३६ का यथार्थ भी यथार्थ था लेकिन एक अलग ढंग का। उसके बाद सन् १६४० का यथार्थ भी यथार्थ ही था लेकिन वह भी एक सीमा तक ही दारुण था। लेकिन स्वातं-त्र्योत्तर यथार्थ अधिक व्यक्तित्ववान और प्रभावकारी था। इसे यदि हम अधिक सुगम ढंग से स्पष्ट करना चाहें तो इस प्रकार कह सकते हैं कि सन् १६३५-३६

का यथार्थ जहाँ घुटनों के बल चलता शिशु था और सन् १६४० का यथार्थ किशोर था वहाँ सन् १६५२-५५ का यथार्थ युवा हो चुका था। इसलिए यह अकारण नहीं है कि जो कवि सन् १६३५-३६ या ४० में यथार्थ से कतराकर साफ निकल जाते थे सन् १६५५-५७ तक उससे क़तराकर निकल जाने में अपने को असमर्थ अनुभव करने लगे। अब यथार्थ का व्यक्तित्व इतना सबल और समर्थ हो गया था कि वह समर्थ रचनाकारों को रोकने-टोकने लगा और उनके कृतित्व पर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़ने लगा।

स्वातंत्र्योत्तर विरूप परिस्थितियों में फूलने-फलनेवाला यथार्थ दिनानुदिन तीव्र और प्रभावशाली होता गया। देश की निरन्तर बिगड़ती परिस्थितियों ने इसकी बढ़ोत्तरी में और अधिक इज़ाफा किया। लेकिन सन् १६६२ के पूर्व स्वप्न भंग की ट्रेजेडी जो भारतीय जन-जीवन के रंगमंच पर निर्ममता के साथ खेली जा रही थी पूरी नहीं हुई थी, अभी उसकी चरम सीमा का निदर्शन नहीं हुआ था। यद्यपि देश में बेकारी, बीमारी और भुखमरी थी, हम कर्ज़ का गेहूँ खा रहे थे और उधार के पैसों से विकास योजनाएँ चला रहे थे तथापि दुनिया को दिखाने के लिए हमारे पास सच्चा या झूठा एक चेहरा था, तटस्थता और पंचशील का सिद्धान्त था, सत्य, अहिंसा और विश्वबंधुत्व का नारा था। लेकिन सन् १६६२ में हुए चीनी हमले ने इन सारे सिद्धान्तों और नारों की असलियत छिन्न-भिन्न कर दी। अब हमारे पास दूसरों को दिखाने लायक चेहरा भी नहीं रहा। यहाँ आकर तीव्र और उत्कट यथार्थ का एक और दौर पूरा हुआ। यदि हम बच्चन के कुछ काव्य-संकलनों की तुलनात्मक परीक्षा करें तो स्वातंत्र्योत्तर यथार्थ का निरन्तर विकसित होता हुआ रूप स्पष्ट होगा। 'बुद्ध और नाचघर' में जो यथार्थ है वह एक सच्चे यथार्थ की शुरूआत है लेकिन वहाँ ओज की एक निश्चित मात्रा भी है। संकलन की पहली कविता आह्वान इस बात को स्पष्ट करती है। 'त्रिभगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' में भी यथार्थ का यह स्वर यथावत् कायम रहता है, या कहीं-कहीं और अधिक उत्कट और तीव्र होता है। वहाँ यथार्थ से जब तब पलायन भी सम्भव हो जाता है। इसलिए बच्चन कभी पुराने ढंग के गीत भी लिख लेते हैं और कभी नये ढंग के लोक-धुनों पर रचित लोकगीत भी गा लेते हैं। यथार्थ ही उनकी कविता का एकमात्र प्रेरक तत्त्व अब भी नहीं होता। लेकिन 'दो चट्टानें' तक आते-आते उनकी कविता इतनी यथार्थमूलक हो जाती है कि उसपर यथार्थ के विशिष्ट व्यक्तित्व की निश्चित छाप पड़ जाती है। यहाँ आकर बच्चन का काव्य यथार्थ के प्रभावों में आकर नीलकंठी आभा बिखेरने लगता है।

परवर्ती काव्य का शैली-शिल्प

बच्चन के परवर्ती काव्य में शैली-शिल्प का कौन-सा रूप मिलता है इस-पर विचार करना आवश्यक है। बच्चन शिल्पवादी नहीं हैं, यह सभी जानते हैं। आलोचकों ने कहा है कि बच्चन के काव्य में शैली-शिल्प अपेक्षाकृत क्षीण और अशक्त है।[1] स्वयं बच्चन भी मानते हैं कि शिल्प को ध्यान में रखकर उन्होंने कविताएँ नहीं लिखी हैं। उनके अनुसार कला के प्रति सतर्कता या सचेतता न उनमें पहले कभी थी और न अब है। उनकी रचना में यदि कोई कला या शैली-शिल्प है तो वह सहज स्वाभाविक अभिव्यक्ति की कला है। सायास किसी तरह की शब्द-कला-कारीगरी दिखाने का उन्होंने कभी कोई प्रयत्न नहीं किया है। वे अपने आप में इसकी क्षमता ही नहीं मानते। वे तुलसी की पंक्तियाँ दुहराते हुए कहते हैं[2]—

कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।।
कवि न होउँ नहिं वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बच्चन की कविता में शिल्प का अलग अस्तित्व न तो रचनाकार स्वीकारता है और न उसके आलोचक। इस दशा में उनके शैली-शिल्प पर अलग से विचार करने की आवश्यकता है क्या? क्या वह बच्चन के काव्य का इतना महत्त्वपूर्ण अंग है कि उसपर अतिरिक्त रूप से ध्यान दिया जाय?

शैली-शिल्प के संबंध में हमारी धारणा बहुत कुछ रूढ़ और संकुचित है। शैली-शिल्प का अर्थ हम शब्द-कला-कारीगरी मानते हैं। वास्तव में यह शिल्प-शैली का एक रूप है। लेकिन शैली-शिल्प को केवल यहीं तक सीमित करके देखना शैली-शिल्प का संकुचित अर्थ लेना है। शैली-शिल्प साहित्य और कला का आवश्यक उपकरण है। किसी भी साहित्यकार या कलाकार के कृतित्व में

१. बालकृष्ण राव, हिन्दी साहित्य कोश, भाग २

२. द्रष्टव्य, परिशिष्ट : बच्चनजी का प्रश्नोत्तर

इसका महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। इसलिए इसपर विवेचन-क्रम में बराबर ध्यान देने की जरूरत है क्योंकि इसका विवेचन न करना वास्तव में कलाकार या साहित्यकार का अधूरा और एकांगी विवेचन करना है। मैंने अपनी पुस्तक उपन्यासकार प्रेमचन्द के दो शब्द में कहा है—"प्रेमचन्द के वस्तुपक्ष पर जितना विचार-विमर्श हुआ है उतना उनके शिल्प-पक्ष पर नहीं जबकि वास्तविकता यह है कि प्रेमचन्द का एक विशिष्ट शिल्प है जो अपनी सरलता और सहजता के कारण ही आलोचकों द्वारा अनदेखा रह गया है।" प्रेमचन्द के संबंध में यहाँ जो बातें कहीं गई हैं वे उन सभी लेखकों के बारे में लागू होती हैं जिनके कृतित्व में शिल्प को अतिरिक्त भाव से नहीं समोया जाता। सरल और सहज शिल्प-शैली वाले लेखकों में शिल्प है ही नहीं ऐसा समझ लिया जाता है और उसपर ध्यान नहीं दिया जाता। यह दृष्टिकोण उचित नहीं है।

स्वतः स्फूर्त लेखन में आम तौर पर विशिष्ट शिल्प का अस्तित्व नहीं स्वीकार किया जाता। बच्चन ने लिखा है—"मैं लिखते समय अपने कथ्य से इतना तन्मय रहता हूँ कि मुझे कला का ध्यान ही नहीं आता।"[१] ऐसी रचना पढ़ते समय पाठक भी भाव-विभोर हो जाता है और लेखक की भाँति शिल्प पर विशेष भाव से ध्यान नहीं दे पाता। इस दशा में सहज स्फूर्त लेखन के शैली-शिल्प पर विचार करने की और भी आवश्यकता है। जो शिल्पवादी है अर्थात् सायास शैली-शिल्प गढ़ते हैं उनका शैली-शिल्प अलग से पहचाना जाता है। उसका अनुभव तो साधारण पाठक भी कर सकते हैं लेकिन जिनके लेखन में शैली-शिल्प और कथ्य इतने घुल-मिल जाते हैं कि अलग से पहचाने नहीं जाते, उनके शिल्प पर विचार करने की और अधिक आवश्यकता है क्योंकि ऐसा किये विना उस लेखक का महत्त्व स्पष्ट नहीं होगा।

साहित्य में शैली-शिल्प की क्या उपयोगिता है? यही कि उससे कथ्य प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त होता है। इस दशा में क्या सहज शिल्प का भी वैसा ही महत्त्व नहीं है जैसाकि विशिष्ट शैली-शिल्प का? कवि और कलाकार के अनुभव भी सामान्य मानवों जैसे होते हैं। विधाता ने एक ही हृदय दोनों को दिया है। इसलिए जहाँ तक अनुभव और अनुभूति का संबंध है वह सामान्य व्यक्ति और कलाकार में एक जैसा होता है। यदि नहीं होता है, तो यह सिद्ध करने का कोई उपाय नहीं है। लेकिन उस अनुभव और अनुभूति को व्यक्त करने का प्रश्न जब उपस्थित होता है तो कलाकार और सामान्य मनुष्य अलग-अलग

१. द्रष्टव्य, परिशिष्ट : बच्चनजी का प्रश्नोत्तर

हो जाते हैं। कलाकार अपने अनुभवों और अनुभूतियों को मार्मिक और प्रभावशाली ढंग से व्यक्त कर देता है पर साधारण मनुष्य ऐसा नहीं कर सकता।

अनुभव और अनुभूतियों को जहाँ से रूपान्तरित कर सम्प्रेषित करने का सवाल उठता है वहीं से शैली-शिल्प का जन्म होता है। सामान्य अनुभव और अनुभूतियाँ दो ढंग से व्यक्त हो सकती हैं—सहज रूप में और सजे-सँवरे रूप में। सजे-सँवरे रूप में अनुभूतियों को प्रकाशित कर देना तो फिर भी सरल है, क्योंकि कलाकार को भरोसा रहता है कि वह कला-कारीगरी पर मेहनत कर रहा है इसलिए पाठक रीझेगा ही। लेकिन उस कलाकार की मन:स्थिति की कल्पना कीजिये जो शब्द-कला-कारीगरी नहीं जानता (नहीं करना चाहता यह मैं नहीं कहता। जिसमें सजाव-सँवार की क्षमता होती है वह उससे बाज़ नहीं आता) लेकिन फिर भी पाठकों के सामने सहज-स्वाभाविक रूप में, प्रभावशाली ढंग से, उपस्थित होना चाहता है। यह तो ठीक ऐसा ही है कि दो महिलाएँ हैं जिन्हें पार्टी में जाना है। एक सजना-गुजना जानती है और उसके पास इसके साधन भी हैं। वह सज-सँवर कर आश्वस्त भाव से निकलती है। लेकिन दूसरी के पास साज़-सामान कुछ नहीं है। कुछ साधारण कपड़े-लत्ते हैं। अब यह तो उसकी सूझ और सुरुचि पर निर्भर करता है कि वह उतने से अपना काम भी चला ले और समारोह में फूहड़ और उपेक्षित भी न कहलाये। मेरे जानते तो दूसरी का काम ही कठिन है।

शैली-शिल्प की सरलता और सहजता जितनी नज़र-अन्दाज़ की जाती है उतनी की वह अधिकारिणी है नहीं। वास्तव में इसके निर्वाह के लिए एक स्वाभाविक क्षमता होनी चाहिये। जिन कलाकारों में यह क्षमता होती है वे इसका मोल नहीं समझ पाते, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पवनसुत अपने यथार्थ बल से परिचित नहीं थे। जीवन के नाना अनुभवों को वाणी देना और सरल और सहज बने रह जाना जितना आसान समझा जाता है, उतना है नहीं। सरल और सहज बना रह जानेवाला लेखक इस बात को भले ही न समझे लेकिन कम से कम आलोचकों को तो समझना चाहिये। विशेषकर आज की दुनिया में, और साहित्य में भी, जबकि व्यक्ति-मन पर अनेकानेक दबाव पड़ रहे हैं तो इन दबावों के मध्य सरलता और सहजता को सुरक्षित रख लेना बड़ी बात है। आज की दुनिया में जैसे स्वाभाविक रूप से हँसते, मुस्कराते, बातें करते, जीवन जीते लोगों का अभाव है वैसे ही साहित्य में भी सरल-सहज शैली-शिल्प वाले लेखक बहुत कम होते हैं।

सरल और सहज शैली-शिल्प वाले लेखकों को शिल्प-संबंधी द्वन्द्वों से नहीं

गुज़रना पड़ता है, ऐसा कुछ लोग सोचते हैं। वे मानते हैं कि ऐसे लेखक शुरू से लेकर अन्त तक स्वाभाविक रूप से सरल और सहज बने रहते हैं। ऐसा बने रहने के लिए उन्हें आयास करना पड़ता है, साधना-श्रम करना होता है, ऐसा वे नहीं मानते। इसलिए वे शिल्पवादी लेखकों को ही शिल्प-संबंधी विविध समस्याओं से उलझने-सुलझने वाला समझते हैं। यह एक भ्रांत धारणा है। वास्तव में सरल और सहज शैली-शिल्प वाले लेखक भी विकास करते हैं। और बावजूद इसके कि वे हर समय सरल और सहज बने रहना चाहते हैं उनमें भी कालान्तर में कुछ न कुछ शैली-शिल्प की जटिलता दृष्टिगत होती है। इसे उस लेखक की शैली-शिल्प-संबंधी प्रौढ़ता भी कह सकते हैं। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट होगी। बच्चन ने 'मधुशाला' और 'मधुबाला' की रचना की। रचना-पथ पर विकास करते-करते वे वहाँ पहुँचे जहाँ पहुँचकर 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' का प्रणयन हुआ। अब यदि 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के साथ 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' के शैली-शिल्प की तुलना करें तो स्पष्ट होगा कि 'मधुशाला' और 'मधुबाला' में जहाँ शैली-शिल्प अपेक्षाकृत अधिक सरल है वहाँ 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' में वह प्रौढ़ और सुविकसित है। इसे कोई बच्चन का शिल्प-संबंधी विकास कह सकते हैं। लेकिन यह शिल्प पर पड़नेवाला कथ्य का प्रभाव भी है। यद्यपि बच्चन 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' में भी स्पष्ट भाव से शब्द-कला-कारीगरी में प्रवृत्त नहीं हुए हैं तथापि यहाँ तक आकर जीवन के विविध जटिल अनुभवों ने उनके शिल्प को प्रभावित किया है। इसलिए केवल अनुभव की सम्पन्नता की दृष्टि से ही नहीं, शिल्प की सुघरता और सुघड़ता की दृष्टि से भी 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' आगे बढ़ी हुई कृतियाँ हैं। लेकिन यहाँ आकर बच्चन को शिल्प-संबंधी द्वन्द्वों और ऊहापोहों का सामना नहीं करना पड़ा होगा यह नहीं माना जा सकता। सरल और सहज अनुभव सरल और सहज भाषा में व्यक्त हो सकते हैं लेकिन जब अनुभवों में जटिलता आ जाए, जो जीवन के दीर्घ और घनिष्ठ परिचय से सदा-सर्वदा सम्भव है, तो उसे सरल और सहज भाषा में व्यक्त करना कठिन होता है। इसलिए यह कहना सही है कि सरल और सहज शिल्प पहले जहाँ सहजसाध्य होता है वहाँ बाद में कष्टसाध्य हो जाता है। उसे निबाहने के लिए अतिरिक्त आयास करना पड़ता है। लेकिन दीर्घ काल तक लेखन-प्रक्रिया का अभ्यस्त हो जाने के कारण लेखक को इस कठिनाई का उतना बोध नहीं होता जितना कि होना चाहिए इसलिए वह इसको कठिनाई ही नहीं मानता।

सरल-सहज शैली-शिल्प वाले लेखकों को भी शैली-शिल्प-संबंधी आयास

और प्रयास करना पड़ता है। यह बात उनके कृतित्व से स्पष्ट होती है। यदि ऐसा न होता तो उनके कृतित्व में सरल शैली-शिल्प का उतार-चढ़ाव क्यों दृष्टिगत हो ? उदाहरण के लिए बच्चन के काव्य को ही लीजिए। 'मधुशाला' और 'मधुबाला' के बाद कथ्य और शिल्प-संबंधी विकास करते हुए वे 'मिलन यामिनी' और 'प्रणय पत्रिका' तक पहुँचे। क्या इस क्रम को ही आगे नहीं बढ़ाया जा सकता था। फिर सरलता और सहजता की एक नयी शुरूआत करने की क्या आवश्यकता थी ? 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात अधिक स्पष्ट होगी। यद्यपि बच्चन के दोनों ही संकलनों में एक ही प्रकार की गीत-रचनाएँ संकलित हैं, लेकिन पहली की तुलना में दूसरी की भाषा और शैली-शिल्प अधिक सरल और सहज स्वाभाविक है। लेकिन यह सरलता और सहजता 'मधुशाला' और 'मधुबाला' की सरलता और सहजता से भिन्न है। लगता है यह उतना नैसर्गिक और स्वाभाविक नहीं है। कवि को इस सरलता और सहजता के लिए प्रयास करना पड़ रहा है। ऐसा करने पर कुछ अंश में काव्यात्मकता की क्षति भी होती है।

बच्चन ने 'प्रणय पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' के प्रणयन के साथ-साथ 'बुद्ध और नाचघर' की कविताओं का प्रणयन भी किया। कथ्य-संबंधी बातों को छोड़ यहाँ केवल इस दृष्टि से विचार करें कि उन्होंने 'बुद्ध और नाच-घर' का शैली-शिल्प क्यों अपनाया। सरल और सहज शिल्प 'बुद्ध और नाचघर' का भी है। गद्यात्मक मुक्त छन्द और आमफहम भाषा ! क्या यह भी सरलता की एक नयी शुरूआत नहीं है ? ऐसी शुरूआत की क्या जरूरत आ पड़ी ? उत्तर साफ है। गीतों में बच्चन जिस सरलता और सहजता को लेकर 'मधुबाला' से चले वह 'प्रणय पत्रिका' तक आते-आते सरलता और सहजता नहीं रह गई, उस पर कला का रंगो-रोगन चढ़ गया। 'आरती और अंगारे' में जब उस रंगो-रोगन को हटाने की कोशिश की गई तो वह और बदरंग दिखाई देने लगी। इसलिए 'बुद्ध और नाचघर' में जो पथ अपनाया गया वह सरलता और सहजता का नया निराला पथ था।

'बुद्ध और नाचघर' के बाद बच्चन सरल और सहज होते गये, बावजूद इसके कि अब उनको अधिक जटिल यथार्थ का सामना करना पड़ रहा था। क्या अब भी वह स्वीकार किया जा सकता है कि उनमें कला के प्रति सतर्कता, सचेतता या ईमानदारी नहीं है ? बच्चन के 'बुद्ध और नाचघर' और बाद के काव्य-संकलनों के कथ्यों को लीजिये। प्रायः इन्हींसे मिलते-जुलते कथ्यों को लेकर नयी कविता के कवि भी कविताएँ लिखते हैं लेकिन उनकी शैली में वैसी

सरलता और सहजता है क्या ? उनपर जटिलता और दुरूहता का आरोप लगाइये तो वे कहेंगे—जटिल और दुरूह यथार्थ को व्यक्त करनेवाली भाषा और शैली-शिल्प सरल और सहज कैसे हो सकते हैं ? तो फिर बच्चन के काव्य में वह सरल और सहज रूप से क्योंकर व्यक्त हो जाता है ? क्या यह अनायास हो जाता है या उसके पीछे दीर्घकालीन अभ्यास, सुरुचि और संयम है ?

केवल व्यक्तिगत लेखन के द्वारा ही नहीं सामूहिक लेखन के द्वारा भी भाषा और शैली-शिल्प का विकास होता है; विकसित होकर भाषा और शैली-शिल्प का एक सामान्य स्तर बन जाता है। इस दशा में यह सम्भव नहीं है कि कोई लेखक सामूहिक प्रयास से निर्मित और प्राप्त स्तरों की अवहेलना कर सरलता और सहजता की पूर्व-स्थिति में पहुँच जाये। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द के औपन्यासिक लेखन से औपन्यासिक शैली-शिल्प का जो विकास प्रारम्भ हुआ वह जैनेन्द्र, इलाचन्द्र और अज्ञेय तक जाकर एक विशेष स्तर कायम कर लेता है। अब किसी नये लेखक के लिए सचमुच यह बहुत कठिनाई की बात है कि वह प्रेमचन्द की-सी सरल और सहज शैली का नमूना पाठकों के सामने रखे। यदि कोई ऐसा कर पाता है तो यह कम आश्चर्यकर और महत्त्वपूर्ण बात नहीं है। ऐसा वह दीर्घकालीन अभ्यास, संयम और सुरुचि के कारण ही कर सकता है, यह मानना होगा। यही बात बच्चन के साथ भी लागू होती है। जब बच्चन के परवर्ती काव्य के मिलते-जुलते कथ्यों को नयी कविता के कवि अपेक्षाकृत अधिक अजनबी भाषा में व्यक्त कर रहे हैं तो बच्चन का उन कथ्यों को सुपरिचित और सरल भाषा में व्यक्त करना क्या बड़ी बात नहीं है ?

सरल-सहज शिल्प वाले लेखकों की शिल्प-संबंधी क्षमता की वास्तविक जाँच उनके परवर्ती लेखन-काल में होती है। परवर्ती लेखन-काल में उसमें अनुभव और अनुभूति की समृद्धि और सम्पन्नता होती है। कथ्य की यह समृद्धि और सम्पन्नता स्वभावतः भाषा और शिल्प की सम्पन्नता और समृद्धि की माँग करती है। यदि भाषा और शिल्प अविकसित और असम्पन्न हो तो उसकी यह माँग बेकार जा सकती है जैसे 'कामायनी' में बावजूद कथ्य की गरिष्ठता के शैली-शिल्प का गाम्भीर्य नहीं लाया जा सका क्योंकि उस समय तक हिन्दी काव्य-भाषा और काव्य-शिल्प इतना समृद्ध और सम्पन्न नहीं था। लेकिन बच्चन के समय तक आकर हिन्दी काव्य-भाषा और कविता-शिल्प की यह लाचार दशा नहीं है। इसलिए यही स्वाभाविक लगता है कि बावजूद अपने जीवन के बहुमुखी अनुभव और अनुभूतियों के, जटिल और उलझनपूर्ण यथार्थ के बढ़ते हुए दबावों के, बच्चन शैली-शिल्प की सरलता और सहजता को बनाये रख सकने के लिए कृत-

संकल्प हुए हैं। लेकिन शैली और शिल्प को सरल-सहज बनाये रखना एक बात है और ऐसा करते हुए भी उसे सार्थक बनाना बिलकुल दूसरी बात। बहुधा इस आधार पर ही किसी साहित्यकार की शैली-शिल्प-संबंधी क्षमता की परीक्षा होती है। इस दृष्टि से देखें तो हमें बच्चन के काव्य से निराशा नहीं होगी। वह अपने परवर्ती लेखन में भाषा और शिल्प-शैली की दृष्टि से सरल और सहज होते हुए भी सार्थक हो सके हैं, यही उनकी बहुत बड़ी सफलता है।

स्थान और महत्त्व

बच्चन छायावादोत्तर काव्य-साहित्य के एक प्रमुख नक्षत्र हैं। यद्यपि उनकी महत्ता से किसी को इनकार नहीं है तथापि उनकी महत्ता किस कोटि की है इस बात को लेकर आलोचकों और साहित्य-प्रेमियों में मतभेद है। एक ओर विश्वम्भर 'मानव' जैसे आलोचक हैं जो कहते हैं—"बच्चनजी छायावादी कवियों की तुलना में नहीं रखे जा सकेंगे ? वे सदैव द्वितीय श्रेणी के कवि माने जायेंगे।"[1] दूसरी ओर सुमित्रानन्दन पंत जैसे कवि और साहित्य-मर्मज्ञ हैं जो कहते हैं—"यह कहना बिलकुल गलत है कि बच्चन द्वितीय श्रेणी का कवि है। अपने स्थान पर बच्चन प्रथम श्रेणी का कवि है।"[2]

यह तो महत्ता की कोटि को लेकर किये गये विवाद का उदाहरण है। इससे अलग बच्चन के कृतित्व को लेकर भी आलोचकों में पर्याप्त मतभेद है। डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी जैसे आलोचक बच्चन के परवर्ती काव्य-लेखन को बिलकुल व्यर्थ मानते हैं और इसलिए कवि को कविता न लिखने की सलाह देते हुए सुझाव देते हैं कि "कवि यदि अपने माध्यम को बदल दे तो समस्या का समाधान हो सकता है। बच्चनजी ने रूसी कविताओं का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है और वे निस्संदेह सुन्दर अनुवाद हैं। यदि बच्चनजी विश्व की श्रेष्ठ रचनाओं का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करें तो सन्देह नहीं कि उनकी प्रतिभा का अच्छा उपयोग हो जायेगा। इससे हिन्दी साहित्य को बहुत लाभ होगा।"[3] यद्यपि बालकृष्ण राव जैसे सभ्य और शालीन लेखक ऐसे धृष्ट सुझाव देने का दुस्साहस नहीं करते तथापि वे भी बच्चन के परवर्ती काव्य-लेखन पर आपत्ति करते हुए कहते हैं—"बच्चन की इधर की रचनाओं को देखकर उन्हींके शब्दों में कहने का जी होता है कि 'जो बीत गई सो बात गई' "[4] लेकिन इससे भिन्न

१. माध्यम, अप्रैल, १९६५, पृ० ११४ : विवेचना गोष्ठी की कार्यवाही का विवरण
२. वही, पृ० ११६
३. वही, पृ० ११२
४. वही, पृ० १११ : बच्चन की कविता 'अभिनव सोपान' के सन्दर्भ में

मत रखते हैं श्री गंगाप्रसाद पांडेय जैसे आलोचक जिनका कहना है—"बच्चन ने इतना अधिक लिखा है कि उनका सम्पूर्ण काव्य कवि के साहस और समर्थ व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है।"[1] यद्यपि वे भी यह कहने से नहीं चूकते कि "आजकल वे जो कुछ लिख रहे हैं उससे आस्था डिगने-सी लगी है।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि बच्चन के स्तर और कृतित्व को लेकर आज भी आलोचकों में पर्याप्त मतभेद है। इस दशा में उनका सम्यक् मूल्यांकन होना ही चाहिये।

पहले हम महत्ता की कोटि के प्रश्न को लें। कवियों का कोटि-निर्धारण बहुधा समय-सापेक्ष होता है, काल-निरपेक्ष नहीं होता। यदि साहित्य के किसी सामान्य विद्यार्थी से प्रश्न किया जाय कि वह हिन्दी के प्रथम कोटि के कवियों के नाम ले तो वह सूर, तुलसी और जायसी का नाम लेगा। तो फिर कबीर, केशव और बिहारी किस कोटि के कवि हुए? फिर सवाल उठेगा कि इस हिसाब से प्रसाद, निराला और पंत को कौन-सी कोटि में स्थान मिलना चाहिये? क्या इन सभी कवियों की कोटि और स्तर एक है? इसलिए कहना यह है कि कोटियाँ समय और युग-सापेक्ष होती हैं। भक्तिकाल में प्रथम कोटि के कवियों में सूर, तुलसी और जायसी का नाम आयेगा, तो रीतिकाल में देव और बिहारी का, और छायावाद काल में प्रसाद और निराला का। अब इन सबको यदि कोई आलोचक एक ही कसौटी पर कसने की चेष्टा करेगा तो यह उसकी कुचेष्टा होगी।

इस प्रसंग में अंग्रेज़ी के कवि-आलोचक इलियट के उस कथन का स्मरण हो आना स्वाभाविक है जिसमें उसने कहा है कि जब किसी साहित्य के किसी काल-विशेष में, किसी क्लासिक की रचना होती है, तो उस साहित्य की भूमि, उस काल-विशेष के बाद, कई सौ वर्षों के लिए बंज़र या कम उपजाऊ हो जाती है। यह प्रकृति का नियम ही है कि जिस साल फसल बहुत अधिक होती है अगले साल उसकी तुलना में कम होती है। लेकिन उस फसल को फसल ही न माना जाय यह कैसे होगा? छायावादोत्तर हिन्दी कविता के पूर्व छायावादी कविता का पूरा-पूरा विकास हुआ। वह विकास अधिक गम्भीर और प्रभावशाली इसलिए हो गया कि वह केवल कविता या काव्य-कला का विकास नहीं था वरन् एक विशिष्ट सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पूरक अंश का विकास था। इसलिए उससे संबंधित कवियों को यह सुविधा थी कि वे सहज ही महत्त्व अर्जित

१. माध्यम, अप्रैल, १९६५, पृ० ११३ : विवेचना गोष्ठी की कार्यवाही का विवरण

कर सकते थे। शायद इसी बात को ध्यान में रखकर नये आलोचक श्री विजय देव नारायण साही ने कहा है—"छायावादी काव्य ऐसा था कि उसमें कई पक्षों से बहस उठाई जा सकती थी। आलोचकों ने छायावादी कविता के बहाने अपने वेद-ज्ञान, औपनिषदिक ज्ञान को व्यक्त किया है, भारतीय संस्कृति की तो दुहाई दी ही गई है, यहाँ तक कि मार्क्सवाद भी उसमें देखा गया है। छायावाद में उस सबके लिए खूब छूट थी।"[१] इस प्रकार छायावादी कवियों के प्रमुखता अर्जित करने के कुछ साहित्येतर कारण भी थे। लेकिन छायावादोत्तर कवियों को ऐसी सुविधा नहीं थी। यदि उनमें से कुछ को यह सुविधा रही भी हो, तो बच्चन को तो यह सुविधा एकदम नहीं थी। इस बात को दूसरे आलोचक भी मानते हैं। श्री विजय देव नारायण साही ने ही कहा है—"बच्चन में ऐसी कोई गुंजाइश नहीं थी। न उनके काव्य गुण को लेकर बहस चलाई जा सकती थी और न उसमें कोई ऐसा विषय ही था जिसको लेकर बहस चलाई जा सकती थी।"[२] इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावादी कवियों की तुलना में छायावादोत्तर कवियों के सामने अधिक कठिनाइयाँ थीं। और बच्चन के सामने तो और भी अधिक कठिनाई थी। अब इस दशा में यदि कोई छायावादी कवियों की सी कोटि के कवि का अनुसंधान छायावादोत्तर काल में भी करे तो निराशा होना स्वाभाविक है। वास्तव में छायावादी कवियों ने अपने बहुमुखी सृजन के द्वारा जो मान स्थापित किये छायावादोत्तर काल के कवि उसे किसी भी हालत में स्थापित नहीं कर सकते थे। यदि वे उन्हींके स्तर पर पहुँचकर उन्हींके संग विचरण करते तो समानधर्मा न कहाकर अनुकरणकर्ता कहे जाते, और इस प्रकार द्वितीय कोटि के कवि कहलाते। यदि उसे ठुकराकर एक दूसरा स्तर—सामान्य स्तर—अपनाते (जैसाकि उन्होंने किया है)—तो भी स्तरच्युत समझकर द्वितीय कोटि के कवि कहे जाते। इस दशा में छायावादोत्तर कवियों के सामने खतरा मोल लेने के अलावा और कोई चारा नहीं था। पंतजी ने जो यह कहा है कि 'बच्चन अपने स्थान पर प्रथम श्रेणी का कवि है' उसमें 'अपने स्थान' शब्दों पर ध्यान देना चाहिये। वास्तव में आलोचकों में काल-बोध न होने से बहुत-से अनर्थ होते हैं।

इस क्रम में हिन्दी आलोचना में प्रयुक्त दो शब्दावली पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। छायावादी हिन्दी कविता के प्रसंग में अक्सर 'बृहत्त्रयी' और

१. माध्यम, अप्रैल, १९६५, पृ० ११३
२. वही, पृ० ११३

'लघुत्रयी' की चर्चा होती है। बृहत्रयी में लोग प्रसाद, निराला और पंत को गिनते हैं और लघुत्रयी में दिनकर, बच्चन और अंचल को। कुछ लोग लघुत्रयी के नामों को लेकर मतभेद का परिचय भी देते हैं—अंचल के स्थान पर नरेन्द्र को या भगवतीचरण वर्मा को रखना चाहते हैं। लेकिन जो भी हो बच्चन के नाम को लेकर कोई विवाद नहीं होता। लेकिन इस प्रकार बँधी-बँधाई शब्दावली में साहित्य की आलोचना करना और किसी कवि का मूल्य स्थिर करना या तो आलोचना की प्रणाली या शब्दावली की जड़ता का परिचायक है या आलोचक के खोखले ज्ञान और अविवेक का। वास्तव में किसी कवि का महत्त्व उसके समय के प्रसंग में, उसके क्रांतिकारी कार्य को देखते हुए आँका जाना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करते जब हम यह स्वीकारते हैं कि "मधुशाला की धूम का वह ज़माना जिन्हें याद है वे स्वीकार करेंगे कि बच्चन का कितना बड़ा ऋण हिन्दी कविता पर है। सामान्य जनता से कविता का सीधा सम्पर्क पुनः स्थापित करने का श्रेय बच्चन को है। काव्य-भाषा का कायाकल्प करने का श्रेय बच्चन को है। उसे आकाश से उतारकर भूमि पर खड़ा करने का श्रेय बच्चन को है।"[१] तो हम यह कैसे कह सकते हैं कि ऐसा क्रांतिकारी कार्य करनेवाला कवि द्वितीय श्रेणी का कवि है?

अब बच्चन के परवर्ती काव्य के महत्त्व को ध्यान में रखकर बातें करें। यह बात अनादि काल से मान्य है कि वेदना की निबिड़ता का काव्य अधिक आकर्षक होता है। तो क्या बाकी कविता कूड़े के ढेर पर फेंक दी जाय? ऐसा दृष्टिकोण कतई विवेक-सम्मत नहीं होगा। लेकिन हिन्दी के आलोचक हैं कि इसी दृष्टिकोण का परिचय दिये जा रहे हैं। उनके लिए बच्चन का सर्वश्रेष्ठ काव्य 'निशा निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' ही है। इस प्रसंग में एक आलोचक का कथन इस प्रकार है—" 'निशा निमन्त्रण' तथा 'एकान्त संगीत' के पश्चात् बच्चन की काव्य-प्रतिभा को विकास की उचित दिशा सम्भवतः नहीं मिल सकी है। 'एकान्त संगीत' के पश्चात् बच्चन का व्यक्तित्व एकदम भिन्न हो जाता है। 'आकुल अंतर' में कवि की कुछ मौलिक प्रवृत्तियाँ सुरक्षित दिखाई देती हैं परन्तु 'सतरंगिनी' में तो दिशा एकदम ही बदल गई है।"[२] दिशा बदलने का आप कोई दूसरा अर्थ न ले लें इसलिए आलोचक महोदय आगे चलकर स्पष्टीकरण कर देते हैं—"कवि के विघटित व्यक्तित्व को सर्वप्रथम सूचित करनेवाली

१. माध्यम, अप्रैल, १९६५, पृ० १०६-१०७ (बालकृष्ण राव का कथन)

२. डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, आलोचना, काव्यालोचन विशेषांक, पृ० १९०

कृति है 'सतरंगिनी'।"[1] अर्थात् बच्चन की बाद की रचनाओं का कोई वैसा मूल्य नहीं है।

एक दूसरे समीक्षक श्री बालकृष्ण राव ने बच्चन के काव्य का विभाजन दो युगों में किया है—(१) आह का युग, और (२) वाह का युग। इसमें उन्होंने आह-युग में रचित कविताओं का ही महत्त्व माना है, वाह-युग की रचनाएँ उनकी दृष्टि में महत्त्वहीन हैं। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए वे एक-एक गीत आह और वाह-युग से लेते हैं। आह-युग का गीत है 'निशा निमन्त्रण' का प्रसिद्ध गीत—"आओ हम पथ से हट से जाएं" और वाह-युग का गीत है 'प्रणय पत्रिका' का "सो न सकूंगा और न तुझको सोने दूंगा हे मन-वीने।" दोनों की तुलना करते हुए, वाह-युग वाले गीत के संबंध में आपत्ति उठाते हुए, राव साहब ने प्रश्न पूछा है—"कहाँ है इसमें वह सहजता, वह संवेदनात्मक तरलता जो सच्ची काव्यानुभूति के परिणाम और प्रमाण हैं?"[2]

यहाँ पर यदि एक सीधा-सा सवाल किया जाय तो वह प्रासंगिक होगा। आखिर कविता क्या है? क्या संवेदनात्मक तरलता या सच्ची काव्यानुभूति? या उसके साथ और भी कुछ? यदि कविता केवल सच्ची काव्यानुभूति नहीं है वरन् उसके साथ शिल्प आदि के संयोग का सुखद परिणाम है तो क्या हिन्दी के आचार्य और आलोचक यह बताएंगे कि इनकी अलग-अलग मात्राएं क्या होनी चाहिये? क्या वैद्यक-शास्त्र की तरह इनके भी नियम हैं कि इतना तोला, माशा और रत्ती काव्यानुभूति चाहिए और इतना शैली-शिल्प? और इसमें यदि कोई कवि घट-बढ़ कर दे तो वह आलोचकों और आचार्य के कोप का भागी हो?

यह मानने से किसीको इनकार नहीं है कि—'निशा निमन्त्रण' और 'एकांत संगीत' में कवि की काव्यानुभूति अधिक स्वच्छ, सहज, सघन और आकर्षक है। लेकिन क्या अनुभूति का वही रूप और स्तर काव्यगत अनुभूति का स्थायी माप-दण्ड बना रह सकता है? युवावस्था में भावों में सघनता स्वभावतया अधिक होती है। लेकिन बाद में भाव-सुसंगठन के स्थान पर भाव की विशदता का आगमन होता है। तो क्या भावों की यह विशदता भाव-संगठन के विपरीत भाव-विघटन के परिणाम हैं? क्या भावना का फैलाव भावना का बिखराव माना जायेगा? युवावस्था के ऐसे क्षणों में, जो दारुण भावों का काल होता है, भावना और भी घनीभूत हो उठती है। लेकिन कुछ काल बाद ही इसकी प्रति-

१. डा० रामस्वरूप चतुर्वेदी, आलोचना, काव्यालोचन विशेषांक, पृ० १९१

२. माध्यम, अप्रैल १९६५, पृ० १०८

क्रिया भी होती है। एक लम्बे अर्से तक वेदना के कारण आत्म-केन्द्रित रहने से कोई भी सोच सकता है—'हाय मैंने दुनिया को कितना अनदेखा किया, अपने सुख-दर्द में उसे कितना भूला-बिसरा रहा।' इस बोध के पश्चात् यह स्वाभाविक ही है कि वह दुनिया के सारे क्रिया-कलापों में, छोटे से छोटे कामों, और छोटी से छोटी घटनाओं में, हिस्सा लेने को आकुल हो उठे। कवि नामक प्राणी को तो यह बोध और भी अधिक कोच सकता है क्योंकि वह तो समय और समाज का प्रवक्ता भी होता है। वेदना की कारा में बद्ध होकर वह कब तक रह सकता है? इसके अलावा यह बात भी है कि संसार में सब कुछ परिवर्तनशील है। कवि भी इसी परिवर्तनशील संसार का प्राणी है। तो क्या वह सभी कालों में, सभी अनुभवों के मध्य, एक सी ही अनुभूति को सँजोये रख सकता है? क्या यह अनुभूति-विशेष के प्रति मोह या पक्षपात नहीं कहा जायगा? यदि एक-सी अनुभूति के प्रति सदा-सर्वदा ऐसा अनुराग सम्भव नहीं तो इस बात को आलोचक समझते क्यों नहीं? क्या बच्चन 'निशा निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' बराबर लिखते रह सकते थे? क्या अनुभूति की निबिड़ता का विघटन विघटन है या उसे अनुभूति का परिवर्तन कहेंगे? क्या परिवर्तन लोगों को निराश करनेवाला होता है? वास्तव में देखने की दृष्टि चाहिए तभी परिवर्तन के अर्थ खुलते हैं। युवा प्रौढ़ हो जाता है। यदि अल्पज्ञ रहा तो अफसोस करता है क्योंकि वह केवल अवस्था-भेद पर दृष्टि टिकाये रखता है। यह नहीं देखता कि अवस्था-भेद के कारण ही उसे वह प्रौढ़ता मिली है जिसके कारण वह सहज ही किसी युवा से भारी पड़ सकता है। उसी प्रकार प्रौढ़ वृद्ध हो जाता है। यदि मूर्ख हुआ तो हाय-हाय करता है लेकिन यदि ज्ञानी है तो उसे प्रकृति की अनुकम्पा समझता है। शतदल जब सम्पुटित रहता है तो उसके सुगठित रूप की एक अलग शोभा होती है। लेकिन जब वह प्रस्फुटित हो जाता है तो क्या विघटित हो जाता है? क्या उस दशा में उसका सौन्दर्य कम और प्रभावहीन हो जाता है? कुछ परिवर्तन निरर्थक और ह्रास के पर्याय भी हो सकते हैं लेकिन वे अपवादस्वरूप होने से नियम की सर्वमान्यता में व्यतिरेक नहीं लाते। इस दृष्टि से बच्चन के परवर्ती काव्य का नये दृष्टिकोण से अध्ययन होना चाहिए।

बच्चन ने अपने कवि-जीवन का प्रारम्भ खैयाम के अनुवाद से किया, फिर मधुशाला की रचना की। इन दोनों ही शुरूआतों को ध्यान में रखें तो बच्चन के कवि-जीवन की शुरूआत किसी ऐसे कवि-जीवन की शुरूआत नहीं है जो दुनिया से बिलकुल कटा हुआ, अपने दर्द की सीमा में कैद था। ऐसा कवि परिस्थितियों का शिकार हुआ और 'निशा निमन्त्रण' और 'एकान्त संगीत' में

व्यक्तिगत वेदना की कारा में बद्ध हो गया। यह भवितव्य था, कवि इसे टाल नहीं सकता था। लेकिन इस स्थिति में आखिर वह कब तक रहता ? कवि कोई ऐसा हाड़-मांस का पुतला तो नहीं कि उसे दुनिया से, समय से, समाज से कुछ काम न पड़े, कुछ लेना-देना न हो। इसलिए उसे शीघ्र ही उस घेरे से मुक्त होकर आना ही था। यही उचित था और यही स्वाभाविक था। लेकिन आलोचक हैं कि इसीको लेकर आपत्ति करते हैं, हाय-तोबा मचाते हैं। वास्तव में बच्चन के कवि-जीवन के विकास का जो ग्राफ है वह प्रायः समरूप है। उसमें 'निशा निमन्त्रण' और 'एकान्त-संगीत' काल के वेदना निबिड़ क्षणों ने एक ऊंचाई ला दी थी जो आकस्मिक थी। इस आकस्मिकता की सब समय अपेक्षा नहीं की जा सकती थी और न इसका निर्वाह हो सकता था। यह अपेक्षा तो ऐसी ही अपेक्षा होगी कि रंगमंच पर किसी वीर पात्र को हरदम तलवार भाँजते ही दिखाये जाने की माँग हो। जैसे ही वह तलवार म्यान में रखने को हो कि दर्शक कायर-कायर चिल्लाने लगें।

कविता की कसौटी कोई शाश्वत कसौटी नहीं होती। एक समय था जब कि रीतिकालीन कवियों की राजदरबारों में खूब सराहना होती थी। फिर समय आया कि लोग उन्हें भला-बुरा कहते नहीं थकते थे। फिर वह समय भी आया कि उनकी सम्यक् प्रशंसा हुई। इससे स्पष्ट है कि काव्य-निकष और रुचि-भेद आदि भी युग और काल-सापेक्ष होते हैं। इस दशा में क्या यह उचित है कि किसी कवि के विस्तृत और व्यापक सृजन का मूल्यांकन एक ही आधार पर होता रहे ? ऐसा सम्भव नहीं है। इसीलिए तो हम निराला के शुरू के काव्य को जिस दृष्टिकोण से देखते हैं बाद के काव्य को उससे भिन्न दृष्टिकोण से देखने को विवश होते हैं। यदि ऐसा न हो तो बाद के काव्य का—'कुकुरमुत्ता', 'नये पत्ते' और 'वेला' आदि का—समुचित मूल्यांकन ही न हो सके। इसी प्रकार बच्चन के प्रारम्भिक काव्य का मूल्यांकन जिन कसौटियों पर हुआ है उनके बाद के काव्य का मूल्यांकन उनसे भिन्न कसौटियों पर किया जाना चाहिए। तभी बच्चन के काव्य का महत्त्व स्पष्ट हो सकेगा। तब हम निश्चितरूपेण मान सकेंगे कि बच्चन का परवर्ती काव्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। तब बच्चन की वास्तविक महत्ता में किसीको सन्देह नहीं रह जायेगा और न इस बात को लेकर विवाद होगा कि वे द्वितीय कोटि के कवि हैं या प्रथम कोटि के।

(२)

हर कवि की एक अपनी विशिष्ट भूमिका होती है जिसके साथ वह साहित्य-क्षेत्र में अवतरित होता है। उसकी उस भूमिका की उसकी परिस्थितियों के

प्रसंग में उपयोगिता होती है। जब तक उसकी परिस्थितियाँ यथावत् रहती हैं तब तक उसकी भूमिका का औचित्य होता है। बाद में परिस्थितियाँ बदलने पर उसकी पहले की भूमिका का कोई औचित्य नहीं होता और वह पिछड़ापन या बासीपन का पर्याय हो जाता है। औसत कवियों के साथ प्रायः यही घटित होता है। जो अपने को औसत से कुछ अधिक समझते हैं वे बदली हुई परिस्थितियों में भी अपने को उसके अनुसार नियोजित करने की चेष्टा करते हैं, सींग कटाकर बछड़ों में शामिल होने का यत्न करते हैं। नये-नये आन्दोलनों के साथ होते हैं, उनकी रहनुमाई करते हैं, नारा और वक्तव्य देते हैं। लेकिन यह सब करना एक बात है और रचनात्मक स्तर पर बदली हुई परिस्थितियों और नयी पीढ़ी से जुड़ना बिलकुल दूसरी बात है। पुरानी संवेदना कोशिश कर नयी संवेदना का स्थान नहीं ले सकती। लेकिन जो प्रतिभावान होते हैं उनकी परिणति कुछ दूसरे ढंग की होती है। उनका कलाकार व्यक्तित्व स्थिर नहीं गतिशील होता है। इसलिए बदली हुई परिस्थितियों में उनके संस्कार, उनकी संवेदना पूर्ववत् नहीं होती वह भी युगानुरूप बदलती रहती है। इसलिए बदली हुई परिस्थितियों में ये बदली हुई भूमिकाएँ लेकर अवतरित होते हैं और इस प्रकार न केवल इनका ऐतिहासिक महत्त्व बना रहता है वरन् तात्त्विक महत्त्व भी कायम रहता है। इस दृष्टि से यदि बच्चन के व्यक्तित्व और कृतित्व को देखा जाय तो स्पष्ट होगा कि उनका पूर्ववर्ती महत्त्व परवर्ती सृजन के कारण परवर्ती काल में भी बहुत कुछ कायम रहता है।

मनुष्य अनुभव से बड़ा होता है। कवि भी इसका अपवाद नहीं है। जीवन की पाठशाला के विभिन्न कड़ुवे-मीठे अनुभव कवि को विषय और शिल्प की दृष्टि से समृद्ध करते हैं। यह समृद्धि उसके काव्य में विविधता और प्रौढ़ता इन दो रूपों में व्यक्त होती है। इस दृष्टि से यदि देखें तो बच्चन के परवर्ती काव्य में ये दोनों गुण प्रचुर परिमाण में उपलब्ध होते हैं। उनके परवर्ती काव्य का वैविध्य इतना प्रत्यक्ष है कि उसे बताने की आवश्यकता नहीं है। प्रौढ़ता के संबंध में यद्यपि हम ठीक उतने ही ज़ोर से नहीं कह सकते तथापि बच्चन के पूर्ववर्ती सृजन की तुलना में वह परवर्ती सृजन में कम नहीं है। यह प्रौढ़ता विशेष रूप से वहाँ लक्षित की जा सकती है जहाँ कवि ने सामयिक प्रसंगों की कविताएँ लिखी हैं।

आजकल सामयिक प्रसंगों आदि के बारे में लिखना आम तौर पर बहुत असाहित्यिक और अपमानजनक समझा जाता है। इसका कारण साधारणतः यह है कि ऐसे प्रसंगों के बारे में जब कुछ लिखा जाता है तो वह आम तौर पर छिछला और प्रभावहीन होता है और इसका दोष रचयिताओं के मत्थे न डाला

जाकर सामयिक विषयों और प्रसंगों पर डाल दिया जाता है। वास्तव में साम-यिक विषय और प्रसंग कवि की दुर्बलता और शक्तिमत्ता दोनों जाहिर करते हैं। यदि किसी की प्रतिभा का अन्दाज़ा लेना हो तो उसे नितान्त सामान्य और असाहित्यिक विषय दिया जाना चाहिये और उससे संबंधित रचना के आधार पर ही उसकी विशिष्टता की जाँच होनी चाहिये। विवेकानन्द के संबंध में जो यह कहा जाता है कि शिकागो में आयोजित विश्व धर्म परिषद् में उन्हें और किसी चीज़ पर न बोलने देकर शून्य पर बोलने के लिए कहा गया उसका तात्पर्य शायद यही था कि देखें यह भारतीय स्वामी इस मामूली विषय के बारे में क्या कहता है। इसलिए सामयिक घटनाएँ और प्रसंग कवि की प्रौढ़ता और कलात्मकता को जाँचने का सबसे उपयुक्त पैमाना है। इस दृष्टि से यदि बच्चन की पहले की और बाद की रचनाएँ देखें तो स्पष्ट होगा कि कवि ने इस दशा में आश्चर्यजनक विकास किया है। सामयिक विषयों, घटनाओं और प्रसंगों से संबंधित कवि की कई रचनाएँ 'धार के इधर उधर' संकलन में प्रकाशित हैं। यह सन् १९५७ का प्रकाशन है। इसके बाद के संग्रहों में भी ऐसी कितनी ही रचनाएँ हैं। और ऐसी कितनी ही रचनाएँ उनके नवीनतम काव्य-संकलन 'दो चट्टानें' में भी संकलित हैं। लेकिन यदि इस प्रकार की रचनाओं को एक सीध में रखकर देखें तो कवि के कृतित्व में निरन्तर विकास और परिष्कार दृष्टिगत होंगे। उदाहरण के लिए हम 'धार के इधर उधर' में संकलित पटेल के प्रति और 'दो चट्टानें' में 'भोलेपन की कीमत', लुमुम्बा की स्मृति में रचित कविता को लें। विकासजन्य यह अंतर स्पष्ट हो जायगा। इसी प्रकार 'धार के इधर उधर' में संकलित 'देश पर आक्रमण' शीर्षक कविता लें। और 'दो चट्टानें' में संकलित चीन और भारत युद्ध-संवंधी कोई एक कविता। स्पष्ट हो जायगा कि दोनों में कितना अंतर है। पहले की रचनाएँ जहाँ निरी तुकबन्दियाँ प्रतीत होती हैं तो वहाँ की रचनाएँ कला और साहित्य की कसौटी पर खरी उतरती हैं। एक में जहाँ ऐसी पंक्तियाँ हैं—

> न दे, न दे, न दे स्वदेश की भुई
> जिसे कि नोक से दबा सके सुई
> स्वतंत्र देश की प्रथम परख हुई
> उतर खरा
> उतर खरा
> उतर खरा

वहाँ दूसरी ओर ऐसी पंक्तियाँ हैं—

बोलना हो तो
तुम्हारे हाथ की दो चोट बोले

इस प्रकार स्पष्ट है कि परवर्ती काल में कला की दृष्टि से बच्चन ने बहुत विकास किया है। जो लोग ऐसा मानते हैं कि गीत लिखने के कारण बच्चन पहले अधिक साहित्यिक और कलावादी थे और मुक्त छन्द लिखने के कारण बाद में अधिक असाहित्यिक और अकलावादी हो गये उन्हें इसपर ध्यान देना चाहिये। वास्तव में कलात्मकता विधान में नहीं अनुभूति के संश्लेष में होती है। जहाँ अनुभूति की गहनता है वहाँ साधारण से साधारण विधा भी मार्मिक, प्रभविष्णु और कलात्मक हो जाती है और जहाँ अनुभूति नहीं है वहाँ कैसी ही कलात्मक विधा का उपयोग क्यों न हो वह निरा पद्य होकर रह जाती है।

अनुभूति के भी प्रकार होते हैं और उनका विकास होता है। मोटे तौर पर हम अनुभूतियों के दो वर्ग कर सकते हैं—मानवोचित अनुभूतियाँ और कलाकारोचित अनुभूतियाँ। मानवोचित अनुभूतियाँ अनुभूतियों का एक सीमित रूप है। हम एक अदना मनुष्य के रूप में प्रेम, घृणा, क्रोध, ममत्व आदि का अनुभव करते हैं। एक साधारण मानव के रूप में इनका रूप संकुचित रहता है। एक साधारण मनुष्य क्रोधित उसपर होता है जो उसका अनिष्ट करता है। यहाँ उसकी अनुभूति उसके स्व से संचालित होती है। यदि किसीके कारण किसी दूसरे का अनिष्ट होता हो तो उससे उसे मतलब नहीं होता, वह उससे तटस्थ रहता है, उसपर ध्यान नहीं देता। इसे ही हम बद्ध या संकुचित अनुभूति कह सकते हैं। कलाकार की अनुभूति ऐसी सीमित और संकुचित नहीं होती। वह तो उन सब के प्रति क्रोध का अनुभव करेगा जो चाहे उसका अनिष्ट करे या नहीं करे, किसी न किसी का अनिष्ट अवश्य करते हैं। क्रौंच का निर्मम वध देखकर जो अनुभूति वाल्मीकि के हृदय में उदित हुई वह कलाकारोचित अनुभूति है। एक साधारण मनुष्य ऐसी हत्याएँ रोज़ होते देखता है लेकिन उसका हृदय करुणा विगलित नहीं होता। वह शोक का अनुभव तभी करता है जब उसका कोई अपना उससे बिछड़ जाये। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानवोचित अनुभूति कलाकारोचित अनुभूति से अलग है। लेकिन कलाकारोचित अनुभूति मानवोचित अनुभूति का ही आगे बढ़ा हुआ रूप है।

जब हम किसी कवि का विकासात्मक अध्ययन करते हैं तो यह देखना ज़रूरी हो जाता है कि उसकी कविता में अनुभूतियों का ऐसा विकास हुआ है या नहीं अर्थात् अनुभूति की दृष्टि से वह बद्ध दशा से मुक्त दशा तक पहुँचा है या नहीं। यही उसकी कविता में वैविध्य और प्रौढ़ता लाने का कारण होता

है। वैविध्य इस प्रकार कि अब केवल उसके अपने सुख-दुख नहीं वरन् सम्पूर्ण जगत, समस्त मानवता के सुख-दुख उसके अपने हो जाते हैं और प्रौढ़ता इस प्रकार कि जो केवल अपनी वेदना के कारण क्रन्दन करता है वह अनसुना रह जा सकता है, उसमें एक लज्जा और संकोच बोध हो सकता है, लेकिन जो पूरी मानवता के दर्द को लेकर कंठ खोलेगा उसे न तो कोई झुठला सकता है और न इस प्रकार कंठ खोलने में उसे किसी प्रकार की हिचकिचाहट या संकोच हो सकता है।

इस दृष्टि से यदि बच्चन के परवर्ती कृतित्व का अध्ययन करें तो स्पष्ट होगा कि उन्होंने अपनी अनुभूति के घेरे को तोड़कर उससे परे जाने की चेष्टा की है। यह चेष्टा अपने आप में कुछ लोगों को असहज और अस्वाभाविक लग सकती है और इसे ही कुछ लोगों ने प्रकृत अनुभूति का विघटन आदि कहा है लेकिन यदि इस प्रकार का अनुभूतिगत संक्रमण विघटन का पर्याय है तो यह हर प्रौढ़ कलाकार में घटित होता है। इसलिए इसे अनुभूति का विघटन न मानकर अनुभूति का विस्तार मानना ही समीचीन है।

बच्चन के पूर्ववर्ती काव्य में, विशेषकर 'निशा निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' आदि में अनुभूति की प्रगाढ़ता और प्रधानता मानी गई है और बाद के काव्य में उसका शोचनीय अभाव बताया गया है। यह बात मेरी समझ में नहीं आती। उदाहरण के लिए मैं यहाँ 'दो चट्टानें' में संग्रहीत खून के छापे शीर्षक कविता की कुछ पंक्तियाँ उधृत कर रहा हूँ—

> सुबह-सुबह उठकर क्या देखता हूँ
> कि मेरे द्वार पर
> खून-रँगे हाथों के कई छापे लगे हैं !
>
> और मेरी पत्नी ने स्वप्न देखा है
> कि एक नर-कंकाल आधी रात को
> एक हाथ में खून की बाल्टी लिए आता है
> और दूसरा हाथ उसमें डुबोकर
> हमारे द्वार पर एक छापा लगाकर चला जाता है;
> फिर एक दूसरा आता है,
> फिर दूसरा, फिर दूसरा, फिर दूसरा···फिर···
>
> (पृ० ४६)

कविता लम्बी है और इतनी संश्लिस्ट है कि उसकी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर उसके प्रभाव को ठीक-ठीक व्यक्त नहीं किया जा सकता। फिर भी इतना स्पष्ट

है कि इन पंक्तियों में जो दर्द है, अनुभूति का एक नवीन रूप है, क्या वह 'निशा निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' की अनुभूति की तुलना में कम मार्मिक और प्रभावशाली है ? फर्क सिर्फ इतना है कि 'निशा निमंत्रण' के भावों को, दुख और दर्द को हर आदमी अनुभव कर सकता है क्योंकि वह उसके अपने अनुभव की परिधि में है, लेकिन खून के छापे के कवि की मनःस्थिति को हर कोई नहीं समझ सकता । जब कवि पूछता है—

(क) यह बेगुनाह खून किसका है ?
(ख) यह बेज़बान खून किसका है ?
(ग) यह जवान खून किसका है ?
(घ) यह मासूम खून किसका है ?
(ङ) यह बेपनाह खून किसका है ?
(च) यह बेमालूम खून किसका है ?

और आप ही उत्तर देता हुआ उनका, उनका, उनका कहकर उनके होने की सम्भावना व्यक्त करता है तो उसके मर्म से एक ऐसा सवाल उभर आता है जिसका कोई जवाब नहीं है । कवि कहता है—

उनके रक्त की छाप अगर लगनी थी तो
······के द्वार पर

इस निर्मम सत्य को वह कई बार दुहराता है । लेकिन आगे चलकर वह स्पष्ट करता है—

इस अमानवीय, अत्याचार, अन्याय
अनुचित, अकरणीय, अकरुण का
दायित्व किसने लिया ?
जिसके भी द्वार पर ये छापे लगे उसने
पानी से धुला दिया
चूने से पुता दिया

(पृ० ४६)

इस प्रकार इस कविता में जो एक मार्मिक और तीक्ष्ण अनुभूति व्यक्त हुई है क्या वह 'निशा निमंत्रण' और 'एकांत संगीत' की अनुभूति से कम मार्मिक और प्रभावकारी है ? ऐसी अनुभूतियों को एक साधारण पाठक न समझ सके यह समझ में आने लायक बात है लेकिन साहित्य के अध्येता सहृदय समालोचक न समझ सकें यह सचमुच चिन्ता का विषय है । यह इस बात का सबूत है कि हिन्दी आलोचना अब भी पुराने निकषों और प्रतिमानों को लेकर भटक रही है और

जब तक ऐसा होगा तब तक स्वस्थ और विकासशील साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन सम्भव नहीं होगा।

अनुभूति की यह प्रौढ़ता और विस्तार आधुनिक दृष्टिकोण का पर्याय है। एक जगह श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने लिखा है—"आधुनिक दृष्टि वाला व्यक्ति केवल 'व्यक्ति' की बात न करके 'समूह' की ओर देखता है। रूस और चीन में ही नहीं, अमरीका और इंगलिस्तान में भी व्यक्ति की अपेक्षा समूहगत संवेदना को महत्त्व दिया जा रहा है और सब कल्याणकारी राज की बात करते हैं। जो लेखक केवल ऐसी चीज़ों को ही 'असली' और आधुनिक समझते हैं जो व्यक्ति-मन की ग्रन्थियों और असहजताओं से उत्पन्न होती हैं और उन्हीं का चित्रण भी करती हैं वे भूल जाते हैं कि इसी कारण यह ज़रूरी नहीं है कि उन्हें 'आधुनिक' और 'असली' माना जाय। असली यानी खरा यानी सच्चा रचनाकार वही है जो आरोपित नहीं बल्कि अनुभूत सत्यों का चित्रण दयानत-दारी के साथ करता है।"[१] इस प्रकार स्पष्ट है कि बच्चन की प्रौढ़ता प्रकारान्तर से उसकी आधुनिकता भी है।

सच्चाई व्यक्ति के लिए वय-सापेक्ष होती है। एक समय जो बातें हमारे लिए बहुत सच्ची, और इसलिए महत्त्वपूर्ण होती हैं, बाद में नकली और झूठी हो जा सकती हैं। बच्चों के लिए घरौंदों का संसार, काठ के घोड़े और परियाँ, दैत्य और दानव ये सब सच होते हैं। लेकिन बाद में वे कितने नकली, झूठे और निस्सार लगते हैं। इसी प्रकार अप्रौढ़ वय में व्यक्ति का अपना सुख-दुख, उसके अपने भाव-अभाव ही सच और महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं लेकिन प्रौढ़ होने पर उसकी किसी समय की यह वास्तविकता अवास्तविकता में परिणत हो जाती है। उस समय उससे यह अपेक्षा करना कि वह अब भी अपनी पूर्वावस्था की वास्तविकता से क्यों नहीं चिपका हुआ है, उसके बोध को बलात् पीछे ढकेलना है, उसकी ईमानदारी को 'क्रूसीफाई' करना है। हिन्दी के आलोचक बच्चन के साथ यही ज़्यादती कर रहे हैं।

१. माध्यम, अक्तूबर, १९६६

परिशिष्ट—१

जीवन का कवि[1]

अपने देश में साधारण जन-मानस का समाजशास्त्रीय अध्ययन बहुत कम हुआ है। आज देश के बहुत-से विश्वविद्यालयों के कुछेक विभाग इस दिशा में सचेष्ट हैं। लेकिन उनकी कार्य-प्रणाली बहुत कुछ रूढ़ और एक-सी है। वे प्रमुखतः जीवन और समाज के व्यावहारिक पक्षों का ही अध्ययन करते हैं जैसे किसानों और मज़दूरों की समस्याएँ या ग्रामीण इलाके में रहन-सहन का ढंग और जीवन-स्तर। अभी तक मुझे इस बात की कोई जानकारी नहीं है कि किसी समाजशास्त्री ने कई दशकों में प्रसारित मध्यवर्गीय युवक-मन के भावों और अभावों के संबंध में प्रश्नावली तैयार की हो और आवश्यक सामग्री जुटाकर कुछ निष्कर्ष निकाले हों। लेकिन यह काम हम बहुत आसानी से बच्चन के काव्य का विश्लेषण करके कर सकते हैं। इस रूप में एक विशेष अवधि में, सन् १९३० और सन् १९६० के बीच, भारतीय समुदाय के एक विशेष अंग ने किस प्रकार सोचा-समझा और जीवन के संबंध में क्या और कैसी धारणा बनाई, किन-किन संघर्षों से उलझा, यह बच्चन के काव्य के अध्ययन से प्रत्यक्ष हो जाता है। ऐसे अध्ययन-प्रकारों से काव्य-पक्ष में वास्तविकता का आधार स्पष्ट होगा और कवि केवल कवि न होकर समसामयिक इतिहासकार, समाज-शास्त्री और मनोवैज्ञानिक का पूरक सिद्ध होगा।

बच्चन के काव्य में आधुनिक मध्यवर्गीय युवक-मन की साफ और सीधी झलक मिलती है। वैसे तो किसी भी युग का कोई कवि अन्ततः जीवन का ही गायक होता है लेकिन अंतर प्रत्यक्षतः और परोक्षतः का होता है। छायावादियों ने भी आधुनिक शिक्षा के संस्कारों से गठित भारतीय युवक-मन के भावों और

१. यह निबन्ध स्वतंत्र रूप से पुस्तक-प्रणयन के पहले लिखा गया था इसीलिए इसे परिशिष्ट में संकलित किया जा रहा है।

अभावों का चित्रण किया लेकिन वह छायावादोत्तर कवियों के चित्रण की तरह सीधा और साफ नहीं है।

छायावादोत्तर कवियों में से कितनों के नाम लिए जा सकते हैं जिन्होंने हिन्दी कविता को जीवन के एकदम समीप लाने की चेष्टा की। लेकिन ऐसे कवियों के नामों में बच्चन का नाम शीर्ष स्थान का अधिकारी है। जिस प्रकार प्रेमचन्द ने हिन्दी कथा-साहित्य की प्रवृत्तियों को झटके से मोड़ा और उसे सम-सामयिक जीवन के एकदम समीप ला खड़ा किया उसी प्रकार बच्चन ने भी कल्पनाशील भारतीय युवक-मन को वास्तविकता के आसंगों में लाकर खड़ा किया। जब मैं ऐसा कह रहा हूँ तो मेरे मन में बच्चन के पूर्ववर्ती काव्य की अपेक्षा परवर्ती काव्यधारा की साफ और सीधी तस्वीर है। बच्चन की प्रारंभिक कविताओं—मधुशाला और मधुबाला आदि में भी जीवन की उष्णता, प्रवाह और स्पन्दन है। लेकिन यदि हम उन्हें युवकोचित भावों के अतिरेक की कविता कहें तो अत्युक्ति न होगी। उनकी प्रारम्भिक कविताओं का जो युवा स्वर है वह मंचस्थित स्वर है हालांकि उस स्वर में स्वर मिलाकर गाने वालों की कमी नहीं है। लेकिन बाद की कविताओं में उनका स्वर भीड़-भाड़ के बीच से उठने-उभरने वाले कवि का स्वर है। बच्चन के पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्य में स्वरों का यह आरोहन-अवरोहन इसलिए सम्भव हुआ है कि कवि ने जीने के क्रम में जीवन की अपरिमेयता का अनुभव किया है।

मैंने जीवन देखा, जीवन का गान किया

बच्चन के काव्य में 'जीवन का अनुपात' विषय का विश्लेषण हम कई प्रकार से कर सकते हैं। यदि शब्द-प्रयोग के आधार पर ही अध्ययन को आगे बढ़ाना चाहें तो देखेंगे कि उनके काव्य में ऐसे कितने ही अनगढ़, असुन्दर और ग्राम्य शब्द हैं, जैसे बैंड, बिगुल और झंडे, गर्म लोहा और घन हथौड़े, छीलर और छपकछैया, चूहे और छछुन्दर, कीचड़ कादो, चिथ चिरवत्ती, अंगड़ खंगड, चोर छिछोर और उचक्के फितनेसाज़ जो प्रयोगवादियों की शब्दावली की याद दिलाते हैं। बच्चन जैसे गीतकार को ऐसे शब्दों का प्रयोग क्यों करना पड़ा यह सोचना पड़ता है।

जीवन के यथातथ्य चित्र अंकित करने के लिए प्रयोगवादी प्रसिद्ध हैं। 'मूत्र सिंचित मृत्तिका के वृत्त में धैर्य धन गदहा' या 'पदाक्रान्त रिरियाता कुत्ता' जैसे चित्रों की वहाँ कमी नहीं है। तो क्या ये चित्र काव्य में अकारण ही लाये गये हैं? ऐसे चित्रों के व्याज से प्रयोगवादी कवि समकालीन जीवन के विशेष

पक्षों का, उसकी तीव्रता और प्रभाव का बोध कराना चाहते हैं। लेकिन प्रयोगवादियों द्वारा प्रयुक्त ऐसे चित्रण और शब्दावलियाँ अतिरेक के कारण लोगों को चौंकाती हैं। यह एक अपारम्परिक चेष्टा है। प्रयोगवादी शब्दावली की साधारणता को स्फीत करने के अभ्यासी हैं और कभी-कभी तो उसे बेलून की तरह फुलाकर प्रभाव नहीं, शोर की सृष्टि करते हैं।

बच्चन ने जीवन के यथार्थ आसंगों को प्रत्यक्ष करने के लिए जहाँ-तहाँ प्रयोगवादियों की सी शब्दावली सहज भाव से अपनाई है। ऐसी शब्दावलियों के प्रयोग के कारण जो खतरे हो सकते हैं उसे प्रयोगवादियों ने भी उठाया है और बच्चन ने भी। इसलिए स्थान-स्थान पर प्रयोगवादियों और बच्चन दोनों के काव्य में गद्यात्मकता और काव्य-गुणों से हीन सपाट कथन (Statements) मिलते हैं—

वे मुझे बीमार लगते हैं निकुंजों
में पड़े जो राग अपना मिनमिनाते

(आरती और अंगारे, पृ० १४७)

कुछ किस्मत के साँढ़ जगत में होते हैं
संघर्षों के जुए न जाते जोते हैं

(चार खेमे चौंसठ खूँटे, पृ० ३६)

लेकिन जब हम काव्य में जीवन का अनुपात विषय का स्मरण करते हैं तो ये सपाट कथन भी जीवन का विशेष आसंग (चाहे वह कभी-कभी सतही ही हो) संकेतित करते नज़र आते हैं। यह बात हमारा ध्यान तब और आकृष्ट करती है जब हम देखते हैं कि बच्चन के समकालीनों ने शब्दावली में ऐसा परिवर्तन तब किया जब कि उनकी कथन-शैली या काव्य-शैली में विशिष्ट परिवर्तन घटित हुए। उदाहरण के लिए दिनकर ने 'नील कुसुम' में विशेष शब्दावली अपनाई। लेकिन 'नील कुसुम' केवल शब्द-योजना या पद-विन्यास की दृष्टि से ही नहीं काव्य-शैली की दृष्टि से भी दिनकर काव्य में परिवर्तन की सूचिका है। बच्चन के काव्य में ऐसे मोड़गत परिवर्तन अधिकतर लक्षित नहीं होते।[1]

१. बच्चन ने 'चार खेमे चौंसठ खूँटे' की भूमिका में लिखा है—'त्रिभंगिमा' के बाद नाम के भारी अंतर के बावजूद 'चार खेमे चौंसठ खूंटे' में आपको किसी चौंका देने वाले परिवर्तन की प्रत्याशा न करनी चाहिये। तिरेपन वर्ष की अवस्था में मेरे जीवन, मेरे परिवेश अथवा दृष्टिकोण में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं आ सकता—वैसे असम्भव जीवन में कुछ भी नहीं है—कि मैं फट से कूदकर नया मोड़ ले लूँ। हिन्दी में हर नई पुस्तक के साथ नया मोड़ देखनेवालों की कमी नहीं है—खासकर नये समालोचकों में। जिनके बारे में नये-नये मोड़ों

वे अपनी किस पुस्तक में सहसा कहाँ मुड़े हैं यह बताना ज़रा कठिन है।[1] उनके संबंध में अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उनके काव्य-स्वरूप का परिवर्तन गतिशीलताजन्य परिवर्तन है।

हिन्दी के अधुनातन काव्य में जीवन का अनुपात बढ़ गया है ऐसा नये आलोचक अक्सर कहते हैं। वस्तुस्थिति भी यही है कि आज जीवन कविता में बहुत सहज भाव, बिना किसी वर्जना का अनुभव किये, उतर आता है इस बात की चिन्ता किए बिना कि इससे कविता अच्छी होती है या बुरी। कविता में छलछलाते जीवन के नानावर्णी रूपों के ऐसे कितने ही उदाहरण हिन्दी के नये काव्य से इकट्ठे किये जा सकते हैं। लेकिन जीवन की यह सहजता और उर्वरता बच्चन के काव्य में भी शुरू से ही प्रतिफलित होती रही हैं। इधर हाल की उनकी दो कविताएँ लीजिये—खेमे राम और खूँटे चन्द। चार खेमे और चौंसठ खूँटे काव्य-संकलन में कवि ने इन दो कविताओं को प्रथम और द्वितीय स्थान (क्रम) दिया है। कविता वैसे काव्य-गुणों की दृष्टि से बहुत सफल नहीं है। कुछ लोगों को इसकी अतिसामान्यता—शब्दावली की भी, और कथन-शैली की भी—के कारण ऊब भी हो सकती है। लेकिन इनमें यायावर मानव-जीवन का जो दौड़ता-भागता छलछलाता रूप प्रतिबिम्बित है वह अपने आप में इतना साफ और सही है कि उसकी विश्वस्तता और वास्तविकता ही उसे अत्याधुनिक काव्य सिद्ध करने में समर्थ है—

चार खूँटे गाड़कर खेमा लगाया
मिल गया जो
पिया-खाया, धुआँ छोड़ा
और जी में आ गया तो
गीत कोई गुनगुनाया
या कि यों ही बुड़बुड़ाया
पीठ सीधी की
उठा सामान बाँधा
चल पड़ा कहता हुआ
श्री राम दंडक वन विहारी।

की चर्चा मैं सुन चुका हूँ, यदि उनका चित्र आँखों के आगे लाना चाहूँ तो मुझे उन्हें अष्टावक्र के बड़े भाई के रूप में देखना पड़ेगा। भले आदमियो, बेमोड़ लिए आगे बढ़ना, ऊपर चढ़ना, गहरे उतरना भी जीवन की कोई नगण्य उपलब्धि नहीं है। (पृ०१७)

१. द्रष्टव्य—बुद्ध और नाचघर और दो चट्टानें का विवेचन

छायावादोत्तर हिन्दी काव्य में सामान्य जीवन का यह विशिष्ट अनुपात अकारण नहीं है। काव्य जीवन की आलोचना या अभिव्यक्ति है इस बात को मानते हुए भी वे केवल जीवन तक ही सीमित नहीं रहे। उनके लिए जीवन की सामान्यता की अपेक्षा रहस्यों और छायाओं का कहीं ज्यादा महत्त्व रहा। उस युग का आलोचनात्मक चिन्तन भी काव्य में जीवन का अनुपात ढूँढ़ने को उत्सुक नहीं था। तब आलोचक काव्य में लोक मंगल की साधनावस्था का निरूपण (रामचंद्र शुक्ल) अधिक समीचीन समझते थे। यह तो बहुत बाद में हुआ कि आलोचकों ने जीवन के तत्त्व और काव्य सिद्धान्त (लक्ष्मीनारायण सुधांशु) के संबंधों का निरूपण किया। इसलिए बच्चन के काव्य में जीवन का जो विशिष्ट अनुपात है वह समसामयिकता का तकाज़ा भी है। कवि ने इसे प्रभावशाली ढंग से वाणी दी है—

आँख मेरी आज भी मानव
नयन की गूढ़तर तह तक उतरती
आज भी अन्याय पर
अंगार बनती, अश्रुधारा में उमड़ती

(आरती और अंगारे, पृ० २४०)

आज पहले के युगों से सौ गुनी
मानव-मनीषा उर्वरा है……
मानदंड भविष्य जीवन का सितारों
की हथेली पर धरा है

(चार खेमे चौंसठ खूँटे, पृ० ५१)

परिशिष्ट–२

ग्रन्थकार के प्रश्न : कवि के उत्तर

प्रश्न : आपका कौन-सा काव्य-संकलन आपके काव्य में विभाजक-रेखा का काम करता है ? अर्थात् पूर्ववर्ती काव्य कहां तक माना जाय और परवर्ती काव्य का श्रीगणेश कहां से समझा जाय ? क्या किसी ख़ास कविता को इसका श्रेय दिया जा सकता है ?

उत्तर : १९२९-३० से अब तक लिखता रहा हूं तो मेरे काव्य में पूर्ववर्ती और परवर्ती का होना स्वाभाविक है। ऐसा विभाजन प्रायः एक कविता पर नहीं होता। किसी एक संग्रह को भी मैं विभाजन-रेखा पर न रखना चाहूंगा। काल को विभाजन-रेखा पर रखना अधिक समीचीन होगा। '५२ से '५४ तक मैं इंग्लैंड में रहा—केम्ब्रिज में ईट्स पर पी-एच०डी० के लिए शोध प्रबन्ध तैयार करने में—आधुनिक यूरोपीय मनस् के संपर्क में भी। इस अवधि में सौ से ऊपर कविताएं भी लिखीं जो तीन संग्रहों में आईं—'प्रणय पत्रिका', 'आरती और अंगारे', और 'बुद्ध और नाचघर' में। इन तीनों संग्रहों में पूर्ववर्ती और परवर्ती के बीच का मध्यवर्ती काव्य शायद पाया जा सकता है।

प्रश्न : क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि आपके पूर्ववर्ती काव्य की तुलना में परवर्ती काव्य का मूल्यांकन नाकाफ़ी है और बहुत हद तक ग़लत भी है ? कारण ?

उत्तर : मेरे पूर्ववर्ती काव्य का भी मूल्यांकन नहीं हुआ, उससे परवर्ती काव्य के मूल्यांकन की तुलना क्या करूं। जिस मूल्यांकन को मैं मानता हूं वह यह है कि मेरे पूर्ववर्ती काव्य के पाठक अगर लाखों में हैं तो मेरे परवर्ती काव्य के हज़ारों में। हिंदी में मूल्यांकन प्रायः उन्हींका हुआ है जो किसी कारण पाठ्यक्रमों में बिठला दिए गए हैं—जो जीवन में पैठे हैं

उनके मूल्यांकन से हिन्दी समालोचक को क्या गरज़ ? हिन्दी का पाठक हिन्दी के समालोचक से अधिक जागरूक है । वह समालोचकों के बगैर ढोल पीटे भी जानता है कौन-सी वस्तु उसके जीवन के निकट है और अक्सर जिसका वे बहुत ढोल पीटते हैं उसकी ओर वह अपने कान ही नहीं करता । हिन्दी की अधिकांश समालोचना विश्वविद्यालयी, स्कूली, कुंजी-रूपी, परीक्षोपयोगी और मोदर्रिसी है ।

प्रश्न : क्या आप व्यक्तिगत रूप से (भी) पूर्ववर्ती काव्य के प्रति अधिक मोह रखते हैं ?

उत्तर : जी नहीं । मुझे अपने परवर्ती काव्य से अधिक मोह है । सबसे अधिक मोह अपनी नवीनतम प्रकाशित रचना से—इस समय 'दो चट्टानें' से और इससे भी अधिक उससे जो अभी गर्भ में है—यानी जो आगे आने वाली है—उसी पर तो मैं अपना सबसे अधिक स्नेह-श्रम-लगन निछावर करता हूं ।

प्रश्न : आपका पूर्ववर्ती काव्य भावुकता का काव्य है जबकि परवर्ती काव्य प्रौढ़ता का काव्य है । क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

उत्तर : जी नहीं । मेरा पूर्ववर्ती काव्य केवल 'भावुकता' का काव्य नहीं है—उसके पीछे गहन-गंभीर चिंतन भी है—उसके पीछे एक जीवन-दर्शन भी है । परन्तु उसे काव्य पर हावी नहीं होने दिया गया है । 'प्रौढ़ता' से अगर आपका अर्थ बौद्धिकता से है तो आज भी वह इतनी प्रखर नहीं कि 'भावुकता' के सारे सरस स्रोतों को सोख गई हो । तुलना में पूर्ववर्ती काव्य अधिक भावुक और परवर्ती अधिक बौद्धिक कहा जा सकता है । केवल भावुकता और केवल बौद्धिकता सजीव कविता लिखने में अक्षम हैं । दोनों के सही अनुपात से ही जीवन में धड़कन होती है ।

प्रश्न : जहां तक कला का सवाल है आपने सतर्कता तभी बरती है जब कि भावों का जनून थम गया है अर्थात् परवर्ती काव्य की शुरूआत भाव-पक्ष की अपेक्षा कला-पक्ष की सतर्कता की शुरूआत है ।

उत्तर : आपका ख्याल बिलकुल ग़लत है । कला के प्रति सतर्कता या सचेतता भी न तो मुझे पहले कभी थी और न अब है । मेरी रचना में यदि कोई कला है तो वह स्वाभाविक अभिव्यक्ति की कला है । मैं लिखते समय अपने कथ्य से इतना तन्मय रहता हूं कि मुझे कला का ध्यान ही नहीं आता । मेरे कथ्य की जीवंतता (Vitality) से कोई कला

स्वत: प्रस्फुटित होती हो तो मैं नहीं जानता। सायास किसी तरह की शब्द-कला-कारीगरी दिखाने का न तो मैंने कभी प्रयत्न किया है और न मुझमें इसकी क्षमता है। इस संबंध में मैं उतनी ही सच्चाई के साथ कह सकता हूं जितनी सच्चाई के साथ तुलसी कहते हैं—"कवित-विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे" या "कवि न होउँ नहिं बचन-प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।" वास्तविकता तो यही है कि कवित्त-विवेक, वचन-प्रवीणता और शब्द-कला से और कुछ लिखा जा सके, कविता नहीं लिखी जा सकती—कविता जीवन की ईमानदार आवाज़ होती है।

प्रश्न : पूर्ववर्ती काव्य जहां संश्लिष्ट है वहां परवर्ती काव्य की प्रकृति-विश्लिष्टता की ओर है। इस विश्लिष्टता को संश्लिष्ट बनाये रखने के लिए आप अधिक जूझे हैं या जूझते रहे हैं। इसलिए कवि-कर्म परवर्ती काल में आपके लिए अधिक कठिन रहा है। क्या आप इस कथन से सहमत हैं?

उत्तर : 'संश्लिष्ट' 'विश्लिष्ट' जैसी पदावली के आधुनिक संदर्भ से मैं अनभिज्ञ हूँ। जैसे मैं कविता पहले लिखता था, वैसे ही अब भी लिखता हूँ, यानी श्रम की दृष्टि से। लिखना मुझे हमेशा ही कष्ट-साध्य रहा है क्योंकि इसके लिए मुझे अपने को जीवन और जीने से अलग करना पड़ा है। लिखना एक अर्थ में सुखकर होकर भी जीने का बड़ा प्राणहीन स्थानापन्न है। अपनी ४० से ऊपर कृतियों को देखता हूँ तो मेरे कलेजे में हूक उठती है कि हाय, मैंने अपने को जीने से कितना वंचित किया है।

पूरक प्रश्न

(१) मूल्यांकन का तात्पर्य केवल आलोचकों द्वारा मूल्यांकन नहीं। इसमें हम पाठकों की प्रतिक्रिया भी शामिल कर सकते हैं। आप स्वयं मानते हैं कि आपके पूर्ववर्ती काव्य के पाठक अगर लाखों में हैं तो परवर्ती काव्य के हज़ारों में। इसका कारण?

(२) आपके पूर्ववर्ती काव्य की तुलना में परवर्ती काव्य का मूल्यांकन नाकाफ़ी है और बहुत हद तक गलत भी हुआ है। इसका आशय यह है कि

पूर्ववर्ती काव्य को सराहने वाले लाखों लोग हैं जब कि परवर्ती काव्य के प्रति उन लाखों लोगों का भी वैसा आकर्षण नहीं है। क्या इसके लिए आलोचकों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता? वास्तव में आलोचना-का एक काम यह भी है कि वह किसी कवि के काव्य-विकास की विभिन्न मंज़िलों का संतुलन-निर्दशित करे। इससे कवि की विभिन्न मंज़िलों के बीच एक ऐसा सोपान निर्मित होता है जिसपर औसत पाठक रुचि के साथ आरोहण करता है। आपके आलोचकों ने यही नहीं किया। उसने परवर्ती काव्य का गलत मूल्यांकन कर औसत पाठकों को बरगलाया। क्या आप इससे सहमत हैं?

(३) कवि की जाँच आलोचक भी करते हैं और पाठक भी। लेकिन दोनों की जांच की कसौटी अलग-अलग होती है। सम्भव है कोई कवि अलग-अलग समय अलग-अलग कसौटियों पर खरा साबित होकर अलग-अलग समुदाय-विशेष का प्रिय पात्र बने। क्या इस दृष्टि से यह कहना ठीक होगा कि जब आप जनाभिरुचि की कसौटी पर खरे साबित होकर आलोचकों के निकष पर भी खरे सिद्ध होने को प्रस्तुत थे तब आलोचकों ने अपने सुन्दर सर्वांगपूर्ण निकष का प्रयोग न कर जनाभिरुचि के निकष का ही सहारा लिया और ऐसा कर गलत फैसला दिया?

(४) जब लिखना आपके लिए हमेशा एक कष्टसाध्य कार्य रहा है तो ऐसा क्यों माना जाय कि आप कला के प्रति सतर्क या सचेत नहीं रहे हैं? क्या कला-निष्ठा के कारण ही आपने ये कष्ट नहीं झेले हैं?

(५) आपकी रचना में यदि कोई कला है तो वह स्वाभाविक अभिव्यक्ति की कला है। क्या यह भी कला का एक रूप, अपेक्षाकृत अधिक कठिन, किन्तु अधिक प्रभावशाली रूप नहीं है? क्या इसके लिए परवर्ती-काल में आपको अधिक श्रम नहीं करना पड़ा है—विशेषकर तब जब कि आप स्वयं मानते हैं कि आपका परवर्ती काव्य अधिक बौद्धिक है?

(६) आपकी बौद्धिकता आज भी इतनी प्रखर नहीं है कि भावुकता के सारे सरस स्रोतों को सोख गयी हो, यह आपका कथन है। क्या आपका साहित्य स्थान-स्थान पर इस धारणा का खंडन नहीं करता? क्या पूर्ववर्ती भावुकता को आप केवल अपनी चीज़ मानते हैं? क्या वह युग की चीज़ नहीं थी? क्या वह युग नहीं बीत गया? यदि अभी भी आप उन स्रोतों को कायम रखना चाहते तो क्या इसके युगीन प्रभाव के दबाव नहीं सहने पड़ रहे हैं? क्या इससे अभिव्यक्ति अर्थात् कला की

समस्याएँ आपके लिए अधिक जटिल नहीं होतीं ?

(७) क्या परवर्ती काल में जीवन का बिखराव और विविधता अधिक प्रत्यक्ष नहीं है ? क्या जीवन का यह बिखराव और वैविध्य उस जीवन की तुलना में अधिक उद्विग्नकारी नहीं है जिसे आप पहले अपनी कविता में समेट लेते थे ?

(८) पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्य के मध्य एक और खंड—मध्यवर्ती-काव्य का निर्धारण जिसमें आप 'प्रणय-पत्रिका', 'आरती और अंगारे' और 'बुद्ध और नाचघर' को रखना चाहते हैं—क्या अस्वाभाविक नहीं है ? क्या 'प्रणय-पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' को हम पूर्ववर्ती काव्य के अन्तर्गत ही नहीं अनभुक्त कर सकते ? क्या इस प्रकार 'बुद्ध और-नाचघर' संकलन आपके काव्य की विभाजन-रेखा नहीं है ?

[इन प्रश्नों के उत्तर बच्चनजी नहीं दे सके। कई बार उन्हें स्मरण कराया गया लेकिन वे व्यस्ततावश या और किसी कारणवश कोई उत्तर न दे सके।]

◇◇◇

आधार ग्रन्थों की सूची

१. खैयाम की मधुशाला (अनुवाद) बच्चन छठा संस्करण अक्तूबर १९६०
२. मधुशाला ,, सोलहवाँ संस्करण जुलाई १९६६
३. मधुबाला ,, ग्यारहवाँ संस्करण फरवरी १९६६
४. मधुकलश ,, आठवाँ संस्करण मई १९६३
५. निशा निमंत्रण ,, नवाँ संस्करण मई १९६४
६. एकांत संगीत ,, सातवाँ संस्करण सितम्बर १९६४
७. आकुल अंतर ,, पाँचवाँ संस्करण फरवरी १९६१
८. सतरंगिनी ,, तीसरा संस्करण मई १९५१
९. हलाहल ,, चौथा संस्करण फरवरी १९६६
१०. बंगाल का काल ,, आठवाँ संस्करण अक्तूबर १९६४
११. सूत की माला ,, चौथा संस्करण फरवरी १९६६
१२. खादी के फूल ,, दूसरा संस्करण जनवरी १९६२
१३. मिलन यामिनी ,, दूसरा संस्करण मई १९६१
१४. प्रणय पत्रिका ,, दूसरा संस्करण जून १९६१
१५. धार के इधर उधर ,, पहला संस्करण सितम्बर १९५७
१६. मैकबेथ (अनुवाद) ,, दूसरा संस्करण दिसम्बर १९६०
१७. आरती और अंगारे ,, तीसरा संस्करण मार्च १९६३
१८. जनगीता (अनुवाद) ,, तीसरा संस्करण जनवरी १९६६
१९. बुद्ध और नाचघर ,, प्रथम संस्करण सितम्बर १९५८
२०. ओथेलो (अनुवाद) ,, प्रथम संस्करण फरवरी १९५९
२१. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : बच्चन
(सं० चन्द्रगुप्त विद्यालंकार) तीसरा संस्करण सितम्बर १९६०
२२. कवियों में सौम्य संत (समीक्षा) बच्चन द्वितीय संस्करण सितम्बर १९६२
२३. त्रिभंगिमा ,, प्रथम संस्करण फरवरी १९६१
२४. आधुनिक कवि (भाग ६) ,, प्रथम संस्करण १९६१
२५. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि
सुमित्रानंदन पंत सं० बच्चन, संस्करण और प्रकाशन वर्ष का उल्लेख नहीं
२६. नये पुराने झरोखे (निबंध संग्रह) बच्चन प्रथम संस्करण फरवरी १९६२
२७. चार खेमे चौंसठ खूँटे ,, प्रथम संस्करण नवम्बर १९६२
२८. चौंसठ रूसी कविताएँ ,, प्रथम संस्करण जनवरी १९६४
२९. अभिनव सोपान ,, प्रथम संस्करण १९६४
३०. मरकत द्वीप का स्वर (अनुवाद) ,, प्रथम संस्करण १९६५
३१. दो चट्टानें ,, प्रथम संस्करण १९६५
३२. नागर गीता (अनुवाद) ,, प्रथम संस्करण जून १९६६

बच्चन की रचनाएं

१. नागर गीता (अनुवाद) '६६
२. मरकत द्वीप का स्वर (ईट्स की कविताओं का अनुवाद) '६५
३. दो चट्टानें '६५
४. चौंसठ रूसी कविताएँ (अनुवाद) '६४
५. चार खेमें चौंसठ खूंटे '६२
६. नये-पुराने झरोखे (निबन्ध संग्रह) '६२
७. त्रिभंगिमा '६१
८. कवियों में सौम्य संत (पन्त-काव्य समीक्षा) '६०
९. ओथेलो (अनुवाद) '५९
१०. बुद्ध और नाचघर '५८
११. जन गीता (अनुवाद) '५८
१२. आरती और अंगारे '५८
१३. मैकबेथ (अनुवाद) '५७
१४. धार के इधर-उधर '५७
१५. प्रणय पत्रिका '५५
१६. मिलन यामिनी '५०
१७. खादी के फूल '४८
१८. सूत की माला '४८
१९. बंगाल का काल '४६
२०. हलाहल '४६
२१. सतरंगिनी '४५
२२. एकांत संगीत '३९
२३. निशा निमंत्रण '३८
२४. मधु कलश '३७
२५. मधुबाला '३६
२६. मधुशाला '३५

२७. खैयाम की मधुशाला '३५
२८. उमर खैयाम की रुबाइयाँ (अनुवाद) '५६
२६. तेरा हार (प्रारंभिक रचनाएँ में सम्मिलित) '३२
३०. प्रारंभिक रचनाएँ—पहला भाग (कविताएँ) '४३
३१. प्रारंभिक रचनाएँ—दूसरा भाग (कविताएँ) '४३
३२. प्रारंभिक रचनाएँ—तीसरा भाग (कहानियाँ) '४६
३३. बच्चन के साथ क्षण-भर (संचयन) '३४
३४. सोपान (संकलन) '५३
३५. अभिनव सोपान (संकलन) '६४
३६. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : बच्चन (संकलन—चन्द्रगुप्त विद्यालंकार द्वारा संपादित) '६०
३७. आधुनिक कवि (७) बच्चन (संकलन) '६१
३८. बच्चन के लोकप्रिय गीत (संकलन) '६७
३६. आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि : सुमित्रानन्दन पंत (संकलन—बच्चन द्वारा संपादित) '६०
४०. नेहरू : राजनीतिक जीवनचरित (अनुवाद) '६१
४१. डब्ल्यू० बी० ईट्स एण्ड ओकल्टिज़्म (अंग्रेजी शोध-प्रबन्ध) '६५
४२. लिरिका : (संकलित कविताओं का रूसी अनुवाद—आर० बरान्निकोवा द्वारा संपादित) '६५

'मधुशाला' का अंग्रेज़ी ('५०) और 'बंगाल का काल' का बँगला (४८) अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

रचनाओं के साथ प्रथम प्रकाशन-तिथि का संकेत है।